नागरीप्रचारिणी पत्रिका

[संवत् २०२३ वि०]

वर्ष ७१ अंक २

काशी नागरी प्रचारिणी सभा

उद्देश्य

का संरक्षण तथा प्रसार।
का विवेचन।
का अनुसंधान।
और कला का पर्यालोचन।

ना

१—प्रति वर्ष, सौर वैशाख से चैत्र तक पत्रिका के चार अंक प्रकाशित होते हैं।

२—पत्रिका में उपर्युक्त उद्देश्यों के अंतर्गत सभी विषयों पर सप्रमाण और सुविचारित लेख प्रकाशित होते हैं।

३—पत्रिका के लिये प्राप्त लेखों की प्राप्तिस्वीकृति शीघ्र की जाती है और उनकी प्रकाशन संबंधी सूचना एक मास में भेजी जाती है।

४—लेखों की पांडुलिपि कागज के एक ओर लिखी हुई, स्पष्ट एवं पूर्ण होनी चाहिए। लेख में जिन ग्रंथादि का उपयोग या उल्लेख किया गया है, उनका संस्करण और पृष्ठादि सहित स्पष्ट निर्देश होना चाहिए।

५—पत्रिका में समीक्षार्थ पुस्तकों की दो प्रतियाँ आना आवश्यक है। उनकी प्राप्तिस्वीकृति पत्रिका में यथासंभव शीघ्र प्रकाशित होती है। परंतु संभव है, उन सभी की समीक्षाएँ प्रकाश्य न हों।

नागरीप्रचारिणी सभा, काशी

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

वर्ष ७१
संवत् २०२३
अंक २

वार्षिक मूल्य १०.००
इस अंक का २.५०

काशी नागरी प्रचारिणी सभा

विषयसूची

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

वर्ष ७१] श्रावण, संवत् २०२३ [अंक २

पूर्वांचलीय रामायणों एवं मानस में सीता

रमानाथ त्रिपाठी

हमारे देश की कृषिप्रधान महत् संस्कृति बहुत कुछ नारी की निष्ठा और सहज प्रेम पर आधारित है। हमारी संस्कृति में नारी से जो अपेक्षा की जाती है तथा समाज में उसका जो स्थान है, वह सीता के चरित्र से स्पष्ट है। सीता पतिव्रत की परिभाषा है। वाल्मीकि की सीता कुलीना, तेजोमयी पतिव्रता, स्नेहमयी सरला वधू है।

जीवन में आई हुई घटनाएँ ही व्यक्ति के चरित्र को कसौटी पर कसकर उसके खरेपन को उभारती है। सीता के जीवन में मुख्यतया चार प्रसंग आए हैं जहाँ उनके चरित्र का विकास देखा जाता है। १-राम के लिये संकट का अवसर, २-मारीच की पुकार से राम के प्रति आशंका और हरण, ३-अग्नि परीक्षा, ४-निष्कासन।

राम ने दीर्घ वियोग की सूचना देने के लिये सीता को उनके बड़प्पन की याद दिलाकर, उन्हें **कुले महति सम्भृते धर्मज्ञे धर्मचारिणि**[1] कह कर ही वनवास की सूचना दी थी तथा उनसे अयोध्या में रहने के लिये कहा था। सीता प्रीतियुक्त क्रोध प्रकट कर **प्रणयादेव संकुद्धा**[2] बोली थी, 'वीर मुझे निःशंक होकर साथ ले चलो, मैंने कोई पाप नहीं किया है। मुझे सभी अवस्थाओं में पति के चरणों की छाया ही हितकर है—

१. वा० रा०, २-२६-२०।
२. वही, २-२७-१।

नय मां वीर विस्रब्धः पापं मयि न विद्यते। २-२७-७
सर्वावस्थागता भर्तुः पादच्छाया विशिष्यते॥ २-२७-८

सीता ने सभी संबंधों के आगे पति का नाता सर्वोपरि माना। पति के सानिध्य मे उनकी सेवा करते हुए वन के अनेक कष्टों को उन्होंने तुच्छ समझा। किंतु जब राम निरंतर उन्हें अयोध्या में रहने की शिक्षा देते रहे तो उन्होंने डरकर काँपते हुए भी प्रेम और अभिमान के साथ राम का उपहास कर कहा[3]—

किं त्वाऽमन्यत वैदेहः पिता मे मिथिलाधिपः।
रामं जामातरं प्राप्य स्त्रियं पुरुषविग्रहम्॥ २-३०-३

(यदि मेरे पिता मिथिलेश यह जानते कि तुम आकारमात्र के पुरुष हो, व्यवहार मे स्त्री हो तो वे कभी मेरा विवाह तुम्हारे साथ कर तुमको अपना जामाता न बनाते।)

अनुसूया से उन्होंने कहा था, पाणिग्रहण के समय अग्नि के समीप मेरी माँ ने जो उपदेश दिए थे, वे मुझे याद हैं।[4]

मारीच के मुख से राम की कपट-कातरध्वनि सुनकर पतिव्रता सीता घबड़ा गई थीं। राम संकट में थे, तुरंत सहायता मिलनी चाहिए। किंतु राम की शक्ति के अटल विश्वासी लक्ष्मण हिल नहीं रहे थे, तब व्याकुल मन की असाधारण स्थिति में विवेक का संतुलन खोकर ही सीता बोल पड़ी थीं—तेरा स्वभाव खोटा है, तू मेरे लिये आया है, या छिपकर भरत का भेजा हुआ है। मैं तेरी साध पूरी नहीं होने दूँगी। मैं इंदीवरश्याम एव कमलनयन राम को छोड़कर किसी क्षुद्रजन को पति बनाने की अपेक्षा प्राण दे दूँगी।[5]

संन्यासी रावण को देखकर सीता ने आदर्श गृहवधू के शील का परिचय देकर उसका स्वागत किया। रावण ने सीता जैसी रूपवती नारी इस महीतल पर नहीं देखी थी—**नैवं रूपा मया नारी दृष्टपूर्वा महीतले**।[6] वह सीता के उन्नत, वृत्ताकार,

३. सा तमुत्संविग्ना सीता विपुलवक्षसम्।
प्रणयाच्चाभिमानाच्च परिचिक्षेप राघवम्॥ २-३०-२।
४. पाणिप्रदान काले च यत्पुरा अग्निसन्निधौ।
अनुशिष्टा जनन्यास्मि वाक्यं तदपि मे धृतम्॥ २-११८ ८।
५. वा० रा०, ३-४५।
६. वही, ३-४६-२१।

सटे हुए, कंपित, पीन, तने हुए, सुंदर कोमल और लाल फल के समान स्तनों[७] की चर्चा करता हुआ कह रहा था -'कांते, जिस प्रकार नदी जल के वेग से कूल का हरण करती है, उसी भाँति तू मेरे मन को हर रही है - **मनो हरसि मे कांते नदीकूलमिवाम्भसा** ।[८] सीता ने ऐसे सन्यासी का अत्यंत आदर करते हुए परंपरानुसार आसन और अर्घ्य आदि वस्तुएँ प्रदान कीं। वे डर रही थीं कि कहीं संन्यासी शाप न दे दे, किंतु ऐसे कुछ अनोखे सन्यासी से उन्हें डर अवश्य लग रहा था, तभी वे वन के उस मार्ग की ओर भी देख रही थीं जिससे राम और लक्ष्मण गए हुए थे।

रावण के वास्तविक रूप को समझ कर सीता ने तेजोदीप्त स्वर में रावण को फटकारा—'तू शृगाल होकर सिंहिनी की कामना करता है तू राम की भार्या को प्राप्त कर मानों प्रज्वलित अग्नि को वस्त्र में बाँधना चाहता है।'

अशोकवन में सीता ने राक्षसियों के फुसलाने धमकाने पर कहा था--मैं निशाचर को बाएँ पैर से भी नहीं छुऊँगी, फिर मैं रावण जैसे विगर्हित की कामना कैसे कर सकती हूं ?

चरणेनापि सव्येन न स्पृशेयं निशाचरम् ।
रावणं किं पुनरहं कामयेयं विगर्हितम् ।। ५-२०-८

सीता का पतिव्रत लादा हुआ पतिव्रत नहीं था। रावण बलिष्ठ, सुंदर और प्रतापी राजा था। सीता ने चाहा होता तो वनवासी, असहाय राम को छोड़कर उसे ही स्वीकार कर लिया होता। किंतु अग्नि की निर्धूम-शिखा सी सीता अपने सत्य पर दृढ़ रही।

रावणवध का समाचार प्राप्त कर हर्ष से स्तब्ध रह जानेवाली सीता ने मैले कुचैले रूप में तुरत ही राम को देखने की अभिलाषा प्रकट की थी, किंतु विभीषण के द्वारा राम का आदेश सुनकर उसने स्नान प्रसाधन किया। उनका विश्वमोहन रूप देखकर वानर रीछ डोले के आसपास एकत्र होकर मार्ग अवरुद्ध करने लगे। विभीषण ने उन्हें बेंत से पीटना प्रारंभ किया। राम ने सीता को पर्दा रहित होकर आने के लिये कहा। लाज के मारे सिकुड़ती हुई सीता आई और आर्यपुत्र कहकर रो पड़ीं। वे विस्मय, हर्ष और प्रेम पूर्वक राम का तमतमाया हुआ मुख देख रही थीं। प्रिय के मुख से प्यारे बचन सुनने की आशा लगाने वाली मैथिली ने सुना—रावण की गोद में

७. एतावुष चितौ वृत्तौ संहतौ संप्रविल्पतौ ।
पीनोन्नतमुखौ कान्तौ स्निग्धौ तालफलोपमौ । ३-४६-१९ ।

८. वा० रा०, ३-४६-२१ ।

परिभ्रष्ट हुई तथा उसकी कुदृष्टि से देखी हुई तुमको मैं बड़े कुल में उत्पन्न होकर कैसे ग्रहण करूँ।

रावणाङ्क परिभ्रष्टां दृष्टां दुष्टेन चक्षुषा।
कथं त्वां पुनरादद्यां कुलं व्यपदिशन् महत्।। ६-११८-२०

इतना ही नहीं, राम ने यह भी कहा, 'दसों दिशाएँ खुली हैं, जहाँ चाहो चली जाओ। लक्ष्मण, विभीषण, सुग्रीव आदि जिसे चाहो उसे स्वीकार कर लो। मैंने तो रावण का वध इसी लिये किया कि मेरे पवित्र इक्ष्वाकु वंश पर कलंक न रह जाए। मैं तुम्हें स्वीकार नहीं कर सकता।' सीता की वेदना का छोर नहीं था, उन्होंने भी उत्तर दिया-तुम प्राकृत जनों जैसी बातें कर रहे हो। मैं वैसी नहीं हूँ जैसा तुम समझ रहे हो। यदि तुम्हें यही करना था तो हनुमान से पहले ही कहला देते, मैं क्यों प्राणधारण करती।'

अग्निशुद्धा सीता सहजरूप से गृहिणीधर्म पालन कर रही थी। राम सीता के कारण लोकापवाद से डर गए और उन्होंने बेचारी को बनदर्शन के बहाने लक्ष्मण के द्वारा घोर वन में निर्वासित किया। ऐसे महान संकटकाल में भी राम की गर्भस्थ थाती की रक्षा के लिये उन्होंने प्राणत्याग नहीं किया। राम पर उन्होंने दोषारोपण न कर उनके प्रति शुभकामना ही भेजी।

उन्होंने यही कहा—विधाता ने मेरे शरीर को दुःख भोगने के लिये ही बनाया है।

पारस्परिक अंतर

वाल्मीकि की यही तेजस्विनी सीता पूर्वांचलीय तीनों रामायणों में गृहीत हुई, इसी लिये इन ग्रंथों में सीता की तेजपूर्ण उक्तियाँ हैं। मानस में उसकी तेजस्विता तो है किंतु किसी के प्रति भी वे कटु वचन नहीं बोलतीं। उनकी तेजस्विता पतिव्रत की है। राम या लक्ष्मण के प्रति उन्होंने कभी कटुवचन नहीं कहे।

वाल्मीकि की सीता उत्तम कुलवधू है। भाषा रामायणों में वे लक्ष्मी की अवतार भी हैं, इसी लिये वे जगन्माता के रूप में चित्रित हुई। पूर्वांचलीय रामायणों में सीता के मानवी चरित्र का विकास है। उनमें सीता की आध्यात्मिक गरिमा नहीं है। मानस की सीता के चित्रण में लेखक बहुत सजग है। उसने राम की आद्याशक्ति का चित्रण अधिक पवित्रता के साथ किया है।

मध्ययुगीन नारी अपेक्षाकृत कुछ अधिक 'अबला' हो गई थी। उसका यह रूप ही आलोच्य रामायणों में है।

इसके अतिरिक्त प्रत्येक लेखक की सीता की अपनी विशिष्टता है।

असमिया रामायण की सीता

इस रामायण की सीता पर वाल्मीकि की सीता की छाप ही गहरी है। सीता को अपने दीर्घबाहु और महावीर सुस्वामी पर गर्व है। सीता की अभिलाषा है कि जन्म जन्म में राम उनके स्वामी हों और कौशल्या सास हों।[९]

सीता ने राम के अभिषेक का समाचार ज्ञात कर अतीव हर्ष का अनुभव किया था। किंतु गोधूलि के मलिन सूर्य की तरह राम को श्रीहीन देखकर उन्हें अत्यंत चिंता हुई। वे राम की प्रदक्षिणा कर हाथ जोड़कर उनके पीछे खड़ी हो गईं। राम से दुःखद समाचार ज्ञात कर वे भूमि पर पछाड़ खाकर गिर पड़ीं। अत्यंत भयभीत होकर उन्होंने राम के वस्त्रांचल का छोर पकड़कर गिड़गिड़ाकर कहा, 'मत जाओ प्रभु'–

न याइबा प्रभु, बुलिया जानकी, आंचलंत धरिलंत।–छं० १८२५

सीता ने राम के प्रति कटु वचन नहीं कहे। माधवकंदली ने सीता को सयमित किया है, किंतु शंकरदेव ने सीता को उत्तरकाड में अत्युग्र दिखाया है। यहाँ सीता ने दीन होकर पूछा—क्या मुझे शारीरिक सौंदर्य की दृष्टि से हीन देखा है, किस कारण प्रभु मुझे उपेक्षित कर जा रहे हैं।

> **कमन अंगत मोक हीन देखिलाहा।**
> **कि कारणे मोक प्रभु उपेक्षिया याहा॥ १८४१**

सीता ने अपना तेज केवल इस रूप में प्रकट किया है तुम्हारे छोड़ जाने पर मेरा जीवन निष्फल है या तो मैं कटार का आश्रय लूँगी या विषपान कर लूँगी।[१०] प्रिय के सानिध्य में उन्होंने हिंस्र पशुओं के भय की भी परवा नहीं की। राम के साथ वनसौदर्य देखने की अभिलाषा से भी वे राम के साथ जाने का हठ करने लगीं।

लक्ष्मण से बोलते समय अवश्य ही सीता उग्र हो गई थीं—तेरा शरीर बाघ का है और मुँह हरिण का। तेरे मुख में अमृत है और तेरा चित्त विषघट है। रे चंडाल, भरत की घूस खाकर और चाटुकारिता कर राम के साथ आया है। स्वामी के बिना प्राण दे दूँगी, किंतु परपुरुष को चरण से भी नहीं छुऊँगी। तू इतर होकर मेरी कामना करता है—३१०७-१२। सीता के उग्र पतिव्रत की प्रतिक्रिया स्वरूप ही ये वचन उन्मादग्रस्त अवस्था में कहे गए हैं, अन्यथा यही सीता

९. **शुनियो गोसानी बोलो सीता परकासू।**
जन्मे जन्मे राम स्वामी तुमि हैबा शाशु॥–१६४३

१०. **तुम परि गैले मोरि जीवन निष्फल।**
कटारत मर अथि भुंजिबो गरल॥–१८६२

रावण को धमकाकर कहती है कि लक्ष्मण के बाणों की चोट से तू प्राण त्यागेगा। अयोध्या जाने पर भी उन्होंने लक्ष्मण के प्रति सद्भाव प्रकट कर कहा था—देवर के प्रसाद से सभी आपत्तियों से उद्धार हो गई—

आपद तरिलो सबे देवर प्रसादे।–६६५५।

सीता ने रावण को गधा बताकर कहा था, सिंह को छोड़कर तेरा भजन क्यों करूँ—**गाधक भजिबो केन सिंहक एरिया।**[11] तू ज्वलंत अग्नि को वस्त्र में बाँधना चाहता है—**ज्वलंत अग्निक बेटा बस्त्रे बंधिनेस।**[12] उन्होंने राम के प्रति अपनी दृढ़ निष्ठा प्रकट कर कहा, मैं परपुरुष की छाया चरणों से भी नहीं छुऊँगी—**चरणे न छुइबो परपुरुषर छाया।**[13] मुझे काम भाव से देखने से तेरी आँखें भी न निकल पड़ीं। राम की भार्या से लाघव वचन बोलने से तेरी जीभ खिसक कर न गिर गई—

मोक काम भावे, चाहंते रावण, चक्षुयो बाज न भैलो।
रामर भार्य्याक लाघव बोलंते जिह्वायो खसि न गैल।। ४१७६

राक्षसियों से सताए जाने पर उन्होंने रावण के ऐश्वर्य की उपेक्षा कर कहा—रावण भले ही त्रैलोक्य का राजा हो तथापि उसकी छाया पर पैर नहीं रखूँगी।

त्रैलोक्यर राजा होबे यद्यपि रावण।
तथापि छायात तार नेदिबो चरण।। ४२१६

कुलवधू सीता को वनप्रवास के समय चीर पहनना नहीं आया था और बेचारी राम का मुँह देखने लगीं थीं। गंगातीर पर लक्ष्मण द्वारा निर्मित तृणशय्या पर राम के पास बैठने में वे लजा गई थीं। अशोक वन में इंद्र द्वारा परमान्न देने पर उसके तीन भाग कर दो भाग राम लक्ष्मण को समर्पित कर तब उन्होंने ग्रहण किया था। रावण से बात करते समय वे पीठ दे लेती थीं।

रावणक लाजे, भये पिठि दिया, सीताये दिला उत्तर। ४१३७

हनुमान से भेंट होने पर उन्होंने राम की कुशल के साथ ही उनके शयन, स्नान और भोजन के विषय में भी जिज्ञासा की—

सार करि कथा मोत कह हनुमंत।
मोहोर कि स्वामी राम कुशले आछंत।।

११. अ० रा०, ३१६१।
१२. वही, ३१३५।
१३. वही, ३१६२।

किम्न शयन स्नान भोजन करंत।
किवा चिंता करि मोक प्रभु सुमिरंत॥[१४]

लंका से वे हनुमान की पीठ पर जाने के लिये तयार नहीं हुई। मुझे सारा जगत सती मानता है। परपुरुष का अंग कैसे छुऊँ। यदि कहो कि रावण हर कर ले आया तो मैं पराधीन स्त्री जाति की हूँ, जो स्वतंत्र नहीं है—

मइ शांती कन्या हेन जानय जगते।
पर पुरुषर अंग छुइबो केन मते॥
बुलिब रावण यिटो आनिलेक हरि।
स्त्री जाति पराधीन नोहे स्वतंतरी॥[१५]

अग्निपरीक्षा के समय सीता की दयनीय स्थिति का मार्मिक चित्रण है। उनके डोले का पर्दा हटा दिया गया, डर के कारण सीता के नेत्रों से आँसू झरने लगे। अलंकार की रुनझुन के साथ वे किसी ओर न देखती हुई और अपने शरीर को छिपाती हुई राम के पास पहुँचीं। लाज, भय को छोड़कर स्वामी को अत्यधिक स्नेह से देखने लगीं। अपने को शुद्ध जानकर धैर्य धारण किया। चिरकाल से देखने की अभिलाषा लेकर वे राम की ओर कटाक्ष से देखती हुई एक ओर खड़ी रहीं।[१६]

राम ने महाक्रोध प्रकट कर कटु वचन कहे। सीता ने धीरे धीरे कहा—मैंने उत्तम कुल मे जन्म लिया, पिता ने महत् कुल में ब्याह दिया। तुम मुझे तुच्छ नारी के समान देखते हो और नट की नारी के समान अन्य को दे देना चाहते हो। पापिष्ठ रावण मुझे हर लाया। मैं पराधीन स्त्री जाति हूँ जो स्वतंत्र नहीं है।[१७] तुम जैसी शंका करते हो, मैं वैसी नहीं हूँ। देवता, धर्म और पृथ्वी को मैं साक्षी और प्रमाण कर कह रही हूँ।'

१४. अ० रा०, ४२८२-३।
१५. वही, ४३००-१।
१६. वही, ६४६२-६४७२।
१७. **उत्तमकुलत आमि जनम लभिलों।**
महत कुलत मोक बापे बिहा दिला॥ ६४८२
आमाक इतर नारी सम देखिलाहा।
नटर नटिनी येन आनक दिलाहा॥
पापिष्ठ रावण मोक आनिलेक हरि।
तिरी जाति पराधीन नहीं स्वतंतरी॥ ६४८३

तुमि येन शंकि आमि नहीं हेन ठान।
देब धर्म साक्षी हुइबा पृथिबी प्रमाण॥ ६४८४

सत्य ही पुरुष कितना कठोर होता है, वह पत्नी के एक दिन के भी गुणों का स्मरण नहीं करता, ऐसा निर्दय हो जाता है। सीता का यह कथन कितना वेदनासिक्त है—

न सुमिरा मोर एक दिवसर गुण।
निर्दय पुरुष जाति किनों निदारुण॥ ६४८६

उत्तरकांड शंकरदेव ने लिखा। शंकरदेव ने पतिपरित्यक्ता अभागिनी नारी की व्यथा पहचानी है। उन्होंने कंदली की सीता से साम्य रखते हुए भी उनको प्रतिक्रिया एवं उनके सात्विक रोष का वर्णन किया है। सीता का यह निःसहाय किंतु तेजोमय रूप पाठकों को रुला देता है। वे राम के प्रति अत्यधिक कटु हो गई हैं। उनकी कटुता बिल्कुल स्वाभाविक है। ऐसा मार्मिक वर्णन तो वाल्मीकि अथवा अन्य पूर्वांचलीय रामकथाकार भी नहीं कर सके हैं।

लक्ष्मण ने जब उन्हें घोर वन में पहुँचाकर बताया कि वे राम की आज्ञा से निर्वासिता हुई हैं तो उन्होंने रोते हुए लक्ष्मण को सांत्वना बँधाई। किंतु वे स्वयं भी तो अकुला गईं—ऐसे घोर वन में एक अबला नारी गर्भावस्था में कहाँ जाए, किस दिशा में जाए—

कौन दिशे याओं एबे न पाओं उद्दिस॥ ६७१९

राम के भेजे हुए चार जन सुग्रेण, हनुमान, विभीषण और शत्रुघ्न सीता को बाल्मीकि आश्रम से लेने गए। सीता उनके साथ जाने को तयार नहीं हुईं। अयोध्या जाकर सुख भोग की उनकी इच्छा नहीं रह गई थी। वे बोलीं—अब मैं फिर यदि राघव की गृहिणी कहलाऊँ तो मुझसे बढ़कर निर्लज्ज नारी कौन होगी? मुझे मारने के लिये गर्भावस्था में त्याग कर अब राम किस साहस से मुझे ग्रहण करेंगे। दुर्जनों के कहने से उन्होंने मुझे निकाल दिया, मैं ऐसे स्वामी राम को अपना यम समझती हूँ।[१८]

ऋषि वाल्मीकि के वचनों का वे उल्लंघन न कर सकीं। उनके कहने से सीता लाज और अपमान से संकुचित होती हुई उनके पीछे पीछे सिर झुकाए और किसी ओर भी न देखती हुई चलीं। वाल्मीकि ने भरी सभा में कहा—मैं बाँह उठाकर समाज में शपथ कर रहा हूँ। मैंने करोड़ों जन्मों में जो भी सत्कर्म किए तथा इस जन्म में जो भी तप धर्म किए हैं वे सब नष्ट हो जायँ, यदि सीता दोषी हो।

१८. वही०, ६९९४-६।

वाल्मीकि की शपथ से राम संतुष्ट हुए किंतु सीता का क्रोध न गया। क्रोध तथा अपमान से उनका चित्त स्थिर नहीं था – **कोपे अपमाने आति चित्त नुहि थिर**[१९], तभी वे कटु शब्द कह गईं––छल पूर्वक मुझे वन भेजा, गर्भ के दो पुत्रों को मारना चाहा, स्वामी के गुणवर्णन करते समय मेरा शरीर जलता है। ऐसे यम सदृश राम का मुख मैं कैसे देखूँ। दुर्जनों के कहने से मुझे वनवास दिया।[२०]

सीता ने अगले जन्म मे जनक, दशरथ, कौशल्या, भालू बंदर और लक्ष्मणादि भाइयों की क्रमशः पिता, श्वसुर, सास, पुत्रतुल्य सहायक और देवर होने की कामना की, साथ ही राम को पतिरूप मे पाने की भी कामना की। पातालप्रवेश के पूर्व राम के प्रति शोक मोह से भर कर सीता ने राम की तीन बार परिक्रमा की, उनके चरणों की धूलि मस्तक पर मल कर कहा–दुःखी हृदय से मैंने जो कुछ कहा उसके लिये मुझे क्षमा करना। यह मेरा दुर्भाग्य ही है कि इस जन्म में तुम्हारे चरणों की सेवा न कर सकी।

हृदय खेदत, यि किछु बुलिलो इ दोष क्षमा आमाक।
तोमार चरण सेविबे न पाइलो मोरे से कर्म बिपाक॥ ७०९३

अपने दोनों पुत्रों को झगड़ा न करने का उपदेश तथा अपनी आयु देकर उन्हें चिरंजीवी होने का आशीर्वाद प्रदान कर दुखिया सीता पातालप्रवेश कर गईं।

जयंत प्रसंग मे असमिया लेखक सीता को मा (२४९३) कहता तो है किंतु सर्वत्र सीता के मोहक रूप का प्रभाव दिखाना ही लेखक का अभीष्ट है।

बंगला रामायण की सीता

इस ग्रंथ की सीता का पतिव्रत विवाह के समय से ही ज्ञात होने लगा था। उनके मन में राम के प्रति पूज्य भाव का उदय **'बासरघर'** की प्रथा के समय से ही देखा जाता है, जब कि सखियों के परिहास स्वरूप राम उन्हें अँधेरे मे हाथ पकड़ कर उठाते हैं। सीता चूड़ियाँ बजाकर संकेत करती हैं, हाथ यहाँ हैं। उन्हें भय है कि पति का हाथ कहीं उनके पैर पर न पड़ जाय।[२१]

राम के बनवास का समाचार ज्ञात कर सीता ने साथ चलने का अनुरोध कर कहा– **स्वामी बिना स्त्रीलोकेर आर नाहि गति**—स्वामी के बिना स्त्री की अन्य

१९. वही, ७०७४।
२०. वही, ७०५१, ७०६०-६२, ६६।
२१. बं० रा०, पृ० ८७।

गति नहीं है। प्राणनाथ अकेले क्यों बन जायँ, दासी साथ चलेगी। तुम्हारे मुख को देखकर वन के सैकड़ों दुःखों का भी मुझे अनुभव नहीं होगा। राम ने साथ लेना स्वीकार नहीं किया, तब सीता कुपित होकर बोलीं—पंडित होकर निर्बोध की तरह बोलते हो। पिता ने क्यों ऐसे को मुझे दिया जो अपनी स्त्री की रक्षा नहीं कर सकता, इसे कौन ऐसा धीर पुरुष है जो वीर कहे।

> पंडित हइया बल निर्बोधर प्राय।
> केन हेन जने पिता दिलेन आमाय॥
> निज नारी राखिते ये करे भय मने।
> देख तारे वीर बले कोन धीर जने॥ पृ० १०६

अनुसूया से बात करते समय उन्होंने दूर्वादलश्याम राम को ही अपनी समस्त संपत्ति बताते हुए उनसे आशीर्वाद माँगा था कि इन्हीं राम में मेरी गति रहे।[२२]

यहाँ भी सीता ने लक्ष्मण को सिर पीटकर गाली देते हुए कटु वचन कहे हैं—'सौतेला भाई कभी अपना नहीं होता। लगता है तुम्हारा मन मुझमें है। भरत ने राज्य छीन लिया, तुम नारी ले लो। भरत के साथ तुम्हारी साँठगाँठ है। अन्य पुरुष की ओर यदि मेरा मन गया तो गले में कटार मारकर प्राण दे दूँगी।'[२३] क्रोध के कारण ही सीता ने ऐसा कहा था। रावण के सत्यरूप का दर्शन कर उन्होंने लक्ष्मण के विक्रम पर अगाध विश्वास प्रकट कर पश्चाताप भी किया है कि हाय, मैंने लक्ष्मण को क्यों विदा किया?

रावण को दुराचारी, पापिष्ठ और दुर्जन कह कर उन्होंने डाँटा था। रावण द्वारा पैरों पर गिर कर अनुनय करने पर उन्होंने स्पष्ट कह दिया था—'मैं अधार्मिक नहीं हूँ, राम की पत्नी हूँ। मैं जनकराज की कन्या, कुलनारी हूँ। राम मेरे प्राणनाथ हैं, राम मेरे देवता हैं। राम को छोड़कर सीता और किसी को नहीं जानती।'

> अधार्मिको नहि आमि रामेर सुंदरी।
> जनक राजार कन्या आमि कुलनारी॥ पृ० २२६
> राम प्राणनाथ मोर राम से देवता।
> राम बिना अन्य जने नहि जाने सीता॥ पृ० २२७

राम की यह कुल नारी जिसे राम राज्यलक्ष्मी[२४] मानते थे, राम के विरह में अस्थिचर्मसार रह गई थी। खर से युद्ध में आहत राम के घावों को देखकर उसके

२२. बं० रा०, पृ० १३३।
२३. वही, पृ० १५०।
२४. वही, पृ० १५८।

नेत्रों से झर-झर आँसू बहने लगे थे। तब उसने कैकेयी के अनर्थ का स्मरण मात्र किया था, उसके प्रति कोई दुर्भाव प्रकट नहीं किया। रावण द्वारा अपहृता होकर समुद्र पार करते समय यह भीरु वधू समुद्र का विस्तार देखकर मूर्छित हो गई थी। इंद्र द्वारा भेजे गए परमान्न को तब ग्रहण किया जब भारतीय पत्नी की प्रथा के अनुसार राम को भोग लगा दिया। रावण को देखकर ही सीता अपने मैले वस्त्रों से शरीर को छिपाने लग जाती थीं।

पतिव्रत से तेजोमयी सीता अग्निपरीक्षा के समय मध्यकालीन छुईमुई नारी के समान ही आती हैं। राम द्वारा उपेक्षित होने पर उन्होंने कटुता प्रकट नहीं की। अपनी पवित्रता की सफाई दी—'प्रभु मेरे स्वभाव को अच्छी प्रकार जानते हो, फिर जानबूझ कर मेरी दुर्गति क्यों करते हो। मैं बाल्यकाल में खेलते समय भी पुरुष शिशुओं का स्पर्श नहीं करती थी। मै दुष्टा नारी नहीं हूँ जो दूसरे को दान कर दो। सभा के मध्य मेरा इतना अपमान क्यों करते हो।

> भाल मते जान प्रभु आमार प्रकृति।
> जानिया शुनिया केन कर दुर्गति॥
> बाल्यकाले खेलिताम बालक मिशाले।
> स्पर्श नाहि करिताम पुरुष छाओयाले॥
> दुष्टा नारी नहि आमि परे कर दान।
> सभा विद्यमाने कर एत अपमान॥[२५]

'यदि यही करना था तो हनुमान से पहले ही कहला दिया होता, मैं प्राण त्याग देती।' राम के प्रति पूर्ण भक्ति का भाव रखकर सीता ने राम की सात बार और अग्नि की तीन बार परिक्रमा की और चिता पर बैठ गईं। अग्नि ने उन्हें राम को सौंपते हुए कहा—आज सती सीता का स्पर्श कर मेरा जीवन सफल हो गया।[२६]

बेचारी भोली सीता लक्ष्मण के साथ वन भेजी गई। मार्ग के अपशकुन देखकर वे राम और कौशल्या के कुशल के लिये चिंतित हो उठी थीं। आँसू बहाते लक्ष्मण से संपूर्ण समाचार ज्ञात कर भी निरपराधिनी सीता ने जन्म-जन्मांतर मे राम को ही पतिरूप मे प्राप्त करने की कामना की।[२७]

२५. कृ० रा०, पृ० ४४०-४४१।
२६. आजि हैले राम मोर सफल जीवन।
करिलाम आजि सती सीता परशन ॥४४३॥
२७. राम हेन स्वामी हउक जन्म-जन्मान्तरे। पृ० ५२६।

उनके दो पुत्रों का युद्ध रामसैन्य से हो रहा था। सीता को यह ज्ञात न था। सीता ने माता, पतिव्रता और क्षत्राणी के गुणों का एक साथ परिचय देते हुए अपने पुत्रों की मंगलकामना की—'यदि मैं काय मनो-वाक्य से सती होऊँ तो तुम युद्ध मे अप्रतिहत होओ।'[२८]

वस्तुस्थति का परिचय पाकर सीता मणिहारा भुजंगिनी के समान दौड़ पड़ी थीं। उन्हें चिंता थी कि अपने ही पुत्रों से आहत प्रभु का स्पर्श कुत्ते और सियार न करने पाएँ। उन्होंने सिर पीटकर अपने पुत्रों को धिक्कारा।[२९]

बारबार परीक्षा देने के लिये बुलाए जाने से सीता को क्षोभ हुआ, उन्होंने कहा—आज से तुम्हारा लज्जा-दुःख दूर हो जायगा। अब तुम जानकी का मुख नहीं देख सकोगे। निरंतर मुझे अपयश दे रहे हो, बारबार सभा में परीक्षा देने के लिये बुलाते हो।

सीता को क्षोभ है किंतु असमिया० के उत्तरकांड के लेखक शंकरदेव की सीता की कटुता उनमें नहीं है। वे जन्म जन्म में राम को ही पतिरूप में प्राप्त करने की कामना लेकर तथा अन्य किसी जन्म में ऐसी छीछालेदर न करने का अनुरोध कर राम की ओर देखती हुई पाताल मे समा गई। उस समय उन्होंने दोनों शिशुओं की ओर भी नहीं देखा—

> जन्मे जन्मे प्रभु मोर तुमि हओ पति।
> आर कोन जन्मे मोर करो ना दुर्गति॥
> नाहि चाहिलेन सीता उभय छाओयाले।
> श्रीरामे निरखिया प्रवेशे पाताले॥[३०]

बंगाली लेखक ने सीता को लक्ष्मी का अवतार माना है। किंतु स्वयं सीता अपनी शक्ति से अपरिचित हैं। उनमें मानस की सीता जैसी अलौकिता नहीं है। उन्हें साधारण मानवी के रूप में प्रस्तुत किया गया है। परशुराम प्रदत्त धनु को चढ़ाते समय वे राम से प्रसन्न नहीं हैं। उन्हें भय है, इस धनुष के चढ़ाने से राम को और एक नारी न मिल जाय। सीता को सौतिया डाह होता है। उड़िया की सीता को भी यही डाह होता है। बँगला की सीता मध्यकालीन उच्च जमींदार की कुलीना कन्या जैसी प्रतीत होती है।

२८. काय मनो वाक्ये यदि आमि हइ सती।
तो सबार युद्धे कारो नाहि अब्याहति॥ पृ० ५५८।

२९. बं० रा०, पृ० ५६५–६६।

३०. बं० रा० पृ० ५७३।

उड़िया रामायण की सीता

अन्य पूर्वांचलीय रामायणों की सीता के समान उड़िया रामायण की सीता के समक्ष भी वे परिस्थितियाँ आई हैं, जहाँ उन्होंने अपनी तेजस्विता का परिचय देकर कुछ कटु वचन कहे हैं। राम के प्रति कटु वचनों को कुछ संयमित किया गया है। उड़िया की सीता में कुछ मौलिकता और यथार्थता भी है। उनका पत्नीरूप विशेषतः पठनीय है।

आरंभ में सीता ने स्वयंवर के समय मन ही मन ब्रह्मा से जो विनय की है उससे वे महती नारी प्रतीत नहीं होतीं। वे कहती हैं– 'ब्रह्मा, मुझे निराश न करना। मेरे युवा तन ने बहुत दुःख भोगा है।[31] बंगला सीता के समान उन्हें भी उस समय सौतिया डाह हुआ है, जब राम परशुराम के दिए हुए धनुष पर प्रत्यंचा चढ़ाते हैं।[32] उनके चरित्र में साधारण नारीत्व भी देखा जाता है। वन-पथ पर चलते चलते वे शबर-जाति की स्त्रियों से बात करने लगती हैं और राम लक्ष्मण बहुत आगे निकल जाते हैं। ऐसी नारी सुलभ मनोवृत्ति दिखाने के लिये राम उन्हे रोकते हैं।[33]

अन्य स्थलो पर सीता लज्जाशीला, चतुर पत्नी, कुलवधू, कुशल गृहिणी और दृढ़ पतिव्रता के रूप में दिखती हैं।

उनमें लज्जाभाव था। धनुर्भंग के पश्चात् राम की वधू हो जाने पर वे अपने पिता के सामने लजा गई थीं—**पितांकु देखिण सीता लाज लाज होइ।**[34] रावण को संन्यासी जानकर वे कुटिया में छिपकर लजा लजा कर बोली थीं—मेरे स्वामी घर मे नहीं हैं, अन्यथा पूजा करती।[35]

राजा लोग यौवन ढल जाने पर अपनी ज्येष्ठा रानियों की उपेक्षा कर नई नवेली राजकुमारियों को ग्रहण करते रहते थे। चतुर सीता ने अपने क्षणिक यौवन और पुरुष की चंचल मनोवृत्ति से भलीभाँति परिचित होकर मधुशय्या के दिन राम से प्रतिज्ञा करा ली थी कि वे एक पत्नीव्रत का पालन करेंगे।[36]

३१. उड़िया०, १-५१।
३२. वही, २-१५।
३३. वही, २-५५।
३४. वही, १-१५५।
३५. वही, ३-३८।
३६. वही, १-२०३।

सीता अपने को राम की जन्मजन्मांतर की दासी मानती थीं—**जन्म जन्मान्तरे मुँ अठइ तोर दासी**।[३७] वे राम के बिना एक क्षण के लिये नहीं रह सकती थीं। राम के अंगों के लिये वे अपने को भस्म के समान मानती थीं।

> **मुहूर्तक निमिषक रहि ये न पाइ।**
> **ए तुम्हर अंगर मुँ होइ थाइ छाइ॥** २—४०

राम का बनवास सुनकर साध्वी सीता साथ जाने को तैयार हुई। उन्होंने उपर्युक्त वचनों के साथ ही कहा—जिस दिन तुमने शिवधनुभंग किया, उसी दिन से तुम मेरे प्राणों को आकृष्ट कर मेरे हृदय में बसे हो।[३८] राम ने वन के कष्टों का वर्णन कर उन्हें छोड़ जाना चाहा तो उन्होंने तड़प कर कहा—पिता ने मुझे तुम्हें समर्पित किया है, मैं जन्म जन्म में तुम्हारे चरणों की दासी हूँ, मैं किसका मुँह देखकर रहूँगी। भली प्रकार जान लो, मैं निश्चय ही प्राण दे दूँगी।[३९]

वन के मध्य वे आदर्श गृहिणी देखी जाती हैं। सीता रसोई बनाकर और राम को स्नेहपूर्वक खिलाकर उन्हीं की जूठी पत्तल में खाती थीं। वे राम के चरण दबाया करतीं—**सीता श्रीरामङ्कर ये चापंति चरण**।[४०] हाथी द्वारा तोड़ी गई लकड़ियों को वन्यलता में बाँधकर नाव बनाई गई थी। उसमें बैठीं तो डर गई। राम ने सहारा देकर गोद में बिठाया। वटवृक्ष के नीचे स्थित होकर भीरु कुलवधू सीता ने मंगलकामनाएँ की हैं। सीता ने वर माँगा—'मेरे स्वामी त्रिभुवन के राजा हों। मैं कभी विधवा न होऊँ, सदा रूपवती रहूँ।' उन्होंने दशरथ, जनक और अयोध्या के कल्याण की कामना की। राम सुन सुन कर हँस दिए।[४१] चित्रकूट में राम की भीरु प्रिया ने अनेक केलियों से उन्हें प्रसन्न किया। राम के साथ जल के छींटे फेंककर उन्होंने जलक्रीड़ा की, फिर खिलखिला कर वे बाहर निकल कर गेरू की शिला पर जा बैठीं। भीगी साड़ी के स्पर्श से भींगे हुए गेरू से राम ने उनके माथे पर बिंदी लगा दी। सामने बंदर को देख सीता डर कर राम से लिपट गई और गेरू राम के अंगों में लग गया। दोनों हँस पड़े।

३७. उड़िया०, १–२०४।
३८. वही, २–४०।
३९. वही, २–४१।
४०. वही, २–५८ और ३–२१।
४१. वही, २–५७।

उड़िया० की सीता ने भी लक्ष्मण पर संदेह किया था—तुम मुझे भरत की गृहिणी बनाने के लिये आए हो और कपटपूर्वक नियम पाल रहे हो। तुम चांडाल और कुटिल हो।

रावण का प्रस्ताव सुनकर तेजस्विनी पतिव्रता सीता पहले तो डरकर काँप गईं, फिर कड़ककर बोलीं—सिंह की पत्नी को शृगाल नहीं हर सकता, तू भाग जा। रे चांडाल, पुरुषहीन घर मे आकर तू असंस्कार वचन बोल रहा है। राम के बाण से तेरी मृत्यु होगी—

पुरुष नाहिं मोहर घरे तु पशिलु॥
असंस्कार वचन कहिलु कहु मोते।
आज रामचंद्र बाणे मरिबु नियते॥ ३-४०, ४१

हनुमान ने विरहिणी सीता को रामनाम की माला जपते देखा। वे कपाल पर दोनों हाथ रखकर दृष्टि नीचे किए रहतीं। उन बिम्बोष्ठी सीता का मुख दुःख से सूख गया था।[42]

हनुमान ने सीता को पीठ पर बिठाकर उद्धार करने का प्रस्ताव किया था। मानिनी सीता ने इन कारणों से यह प्रस्ताव स्वीकार नहीं किया। १. इससे रावण जीता रहेगा, और स्वामी की प्रतिज्ञा पूरी नहीं होगी, २. वह चुरा लाया, तुम भी चुराओगे (यह अनीति है), ३. तुम छोटे हो (हनुमान ने अपना विराट् रूप दिखाया, तब सीता ने कहा), ४. जिस समय तुम लेकर चलोगे राक्षस पीछा करेंगे, ५. समुद्र देखकर मै डर जाऊँगी, ६. परपुरुष का स्पर्श नहीं कर सकती, तब बेबसी थी, रावण बलात् हर लाया था।[43]

अग्निपरीक्षा के समय राम ने सीता से वही व्यवहार किया जो वाल्मीकि के राम ने किया। वह उग्रता नहीं है, किंतु वचन वही हैं। सीता ने भी कहा—मुझे नटनारी समझकर बोल रहे हो। मै दोनों कुलों मे पवित्र हूँ। लक्ष्मण ने चिता तैयार कर दी, वे अपने चरित्र की दुहाई देकर अग्नि में इस प्रकार प्रवेश कर गईं जैसे कोई बहते पानी मे चलता है।[44]

४२. स्फटिकर जपमालि गोटि बेनिबाहु।
सर्वदा तहिं रे तारे नाम को जपइ।
कपालरे बेनि हस्त मेदिनीकि दृष्टि।
दुःखेण मुख शुखाइ अछि बिंब ओष्ठी॥ ५-८।
४३. उड़िया०, ५-२४।
४४. वही, ६-१११।

वन में अकेला छोड़ने पर सीता ने विलाप तो किया किंतु परिवार के सभी लोगों की चिंता भी की। लक्ष्मण से कहा—राम के नित्यकर्म ठीक से करा देना।[४५]

आश्रम से अयोध्या लौटते समय वे हाथ जोड़े हुए एवं अभिमान से सिर झुकाए हुए आईं।

करपत्र योड़ि ये आसइ देवी सती।
अभिमान भरे ये अछइ मुख पोति॥ ७–१७८

उन्होंने अपमान न सहकर तथा अपना जीवन निस्सार समझ कर कहा—'श्री राम को छोड़ कर यदि मेरा मन और किसी में स्थिर हो, तो हे पृथ्वी तुम शीघ्र विदीर्ण हो जाओ। इस संसार का दुःख मैं सह नहीं पा रही हूँ।' इतना कहकर वैदेही राम का मुख न देखती हुई रो पड़ी।[४६]

उड़िया रामायण की सीता को भी कमला का अवतार मानकर जगन्माता कहा गया है किंतु सीता स्वयं याद नहीं रखतीं कि वे जगन्माता हैं।

त्रैलोक्यर ठाकुराणी जगतर आइ। ३–४३

उड़िया रामायण लेखक ने देवताओं के विराट् परिवार में सीता को हिंदू संयुक्त परिवार की आदर्श गृहिणी के रूप में भी चित्रित किया है।

मानस की सीता

संस्कृत नाट्यकारों के अनुसार तुलसीदास ने भी सीता का पूर्वराग दिखाया है। प्रण को पूर्ण करनेवाले व्यक्ति से ही सीता का विवाह हो सकता था, अतएव सीता का पूर्वराग मर्यादा की दृष्टि से अनुचित था, किंतु तुलसी के समय तक राम और सीता के संबंध में अवतारवादवाली धारणा बद्धमूल हो चुकी थी। अतएव विवाह के पूर्व का यह आकर्षण 'प्रीति पुरातन'[४७] के कारण था। यह दृष्टिकोण सामने रखने पर फिर हम सीता के पवित्र प्रेयसी रूप के ही दर्शन करते हैं। प्रेयसी रूप में भी उन्होंने कहीं शील संकोच का परित्याग नहीं किया। स्वयंवर स्थल पर माला लिए हुए सीता के भावसंघर्ष का बड़ा ही मनोरम चित्रण हुआ है।

४५. वही, ७-११७-११८।

४६. श्रीरामहु मन येबे आने मोर थाइ।
दुइखंड होइ फाटि याउ बेगे मही॥
सहि न पारइ मुहिं ए संसारर दुःख।
कांदंति बइदेही न चाहि राममुख॥ ७ - १८०।

४७. प्रीति पुरातन लखइ न कोई।—१-२२८-८।

कुलवधू के शील और लज्जागुणों से युक्त सीता की अत्यंत पवित्र मूर्ति तुलसी ने गढ़ी है। राम के ऊपर आनेवाली विपत्ति को ज्ञात कर वे व्याकुल होकर सास के पास दौड़ गईं। मर्यादावश वे सास के समक्ष कुछ कह सकती नहीं। वे सास के चरणों में प्रणाम कर सिर झुकाकर बैठ गईं। नमित मुख सीता अनेक प्रकार की चिंताएँ करती हुई अपने चरण नखों से धरती कुरेदने लगीं। उस समय उनके नूपुर मधुर ध्वनि कर रहे थे।[४८] राम उन्हें यहीं छोड़ जायेंगे ऐसा सोचकर उनके नेत्रों में पानी भर आया, वे निरुत्तर हो गईं। विपत्ति के समय मर्यादा नहीं रहती। सीता ने सास के पैर छूकर अविनय के लिये क्षमा माँगकर ही राम से अनुरोध किया कि वे उन्हें साथ ले चलें।

शीलमयी कुलवधू के गुण के साथ ही पतिव्रता का गुण भी उनमे जुड़ा हुआ है। उन्होंने राम के साथ अपने संबंध की स्पष्ट घोषणा इन शब्दों में की —

जिय बिनु देह नदी बिनु बारी।
तैसिअ नाथ पुरुष बिनु नारी॥ २-६४-७

उन्होंने राम से कहा था—क्षण क्षण आपके चरणकमल देखकर मुझे मार्ग मे थकावट नहीं होगी। मैं आपके पैर धोकर पेड़ों की छाया मे बैठकर आपको पंखा झला करूँगी। पसीने की बूँदों से शोभित आपके श्याम शरीर को देखकर दुःख के लिये मुझे अवकाश ही कहाँ मिलेगा।[४९] कहीं भी राम के प्रति कोप या अभिमान नहीं दिखाई पड़ता।

पति के प्रति सीता के मन मे इतना अधिक पूज्य भाव था कि मार्ग मे चलते समय वे राम के चरण चिह्नों तक पर अपने पैर नहीं पड़ने देती थीं।[५०]

४८. मानस, २-५७-१-५।

४९. मोहि मग चलत न होइहि हारी।
छिनु छिनु चरन सरोज निहारी॥ २-६६-१।
पाय पखारि बैठि तरु छाहीं।
करिहउँ बाउ मुदित मनमाहीं॥ २-६६-३।
श्रम कन सहित स्याम तनु देखे।
कहँ दुख समउ प्रानपति पेखे॥ २-६६-४।

५०. प्रभु पद रेख बीच बिच सीता।
धरति चरन मग चलति सभीता॥ २-१२३-३।

१ (७१-२)

पर्णकुटी मे प्रियतम के साथ रहते समय मुग्ध चकोरी के समान वे पति का मुखचंद्र देखकर सुख का अनुभव करती थीं। वन के जीव जंतुओं को उन्होंने अपना कुटुंबी बना लिया था।[५१]

वन से लौट आने पर भी सीता सदा राम के अनुकूल रहीं। घर में अनेक दास दासियों के होते हुए भी वे राम की सेवा स्वयं ही किया करती थीं। राम के साथ ही सासों की भी सेवा वे स्वयं ही करती थीं।[५२]

सीता के पतिव्रत मे तेजस्विता भी थी। रावण को अपने भयावह सत्य रूप में देखकर पहले तो वे डर गईं, किंतु तुरंत ही धैर्य धारण कर ओजपूर्ण वाणी में बोलीं—खड़ा रह दुष्ट, मेरे स्वामी आ गए।

आइ गयउ प्रभु रहु खल ठाढ़ा। ३-२७-१४।

उसके बारबार प्रलोभन देने और धमकाने पर भी सीता विचलित नहीं हुई। तिनके की ओट से ही वे रावण से बात करती थीं। उन्होंने अपना निश्चय रावण पर प्रकट कर दिया था—या तो इस कंठ पर प्रभु की श्यामल बाँह होगी या तेरी भयंकर चंद्रहास तलवार।

अपरिचित हनुमान जब निकट आए तो सीता पीठ देकर बैठ गई थीं। कुलवधू सुलभ उनकी यह भीरुता भी बड़ी प्रिय तो लगती ही है साथ ही पतिव्रत के दृढ़ भाव को भी प्रकट करती है।[५३]

अग्निपरीक्षा के समय उन्होंने आत्मविश्वास से भरी ओजस्वी वाणी में कहा था—

जौं मन बच क्रम मम उर माहीं।
तजि रघुबीर आन गति नाहीं।।
तौ कृसानु सब कै गति जाना।
मो कहुँ होउ श्रीखंड समाना।। ६-१०८-७,८।

परिवार के अन्य लोगों के प्रति भी सीता का सद्भाव देखा जाता है। भरत की चिंता के कारण दुःस्वप्न देखकर वे व्याकुल होती हैं। लक्ष्मण को तो उनके स्नेह की छाया मे इतना सुख मिला था कि उन्हें कभी स्वप्न मे भी अपने माता-पिता आदि की सुधि नहीं आई। चित्रकूट में अपने पिता और माता को देखकर वे

५१. मानस, २-१३९-१-३।
५२. वही, ७-२३-३-८।
५३. वही, ५-१२-८।

इतनी अधिक प्रेमविह्वल हो गई थीं कि अपने को सँभाल न सकी थीं।[५४] जनक ने भी गद्गद् स्वर से कहा था—'पुत्रि पवित्र किए कुल दोऊ।'[५५] सीता अपनी माता से मिलने उनके शिविर में गईं। रात्रिकाल में वे गंभीर धर्मसंकट में पड़ गईं। सासों की सेवा छोड़कर वे माता के पास कैसे रहे। पिता माता, पुत्री के शील संकोच से बहुत ही प्रसन्न हुए थे।

राजा दशरथ ने जानकी को बहू न समझकर पुत्री माना था। राम से भी अधिक चिंता उन्हें बहू की थी। मरते मरते वे यही चाहते रहे कि सीता तो कम से कम लौट आती।

तुलसीदास ने राम की तुलना मे सीता के चरित्र में सहज मानवीय गुणों का चित्रण किया है। सीता मानवी रूप मे प्रस्तुत हुई हैं, लक्ष्मी या आद्याशक्ति होने का उन्हें स्वयं ही ज्ञान नहीं रहता। फिर भी एक दो ऐसे स्थल आए हैं जिनके कारण उनका सहज मानवीय रूप उभर नहीं पाता—

१. चित्रकूट में वे अनेक रूप धारण कर सासों की सेवा करती हैं।[५६] यहाँ सीता की अलौकिकता प्रकट है।

२. राम की आज्ञा से सीता अग्नि में समा गई थीं और जिस सीता का हरण हुआ, वह माया सीता थी। इस प्रसंग से वियोगिनी सीता का चरित्र उभर नहीं पाता। वह लक्ष्मण को मारीच की पुकार पर 'मर्म वचन' बोलकर रह जाती है। मर्म वचन क्या थे, नहीं बताए गए। अग्निपरीक्षा की अन्य रामायणो जैसी स्थिति भी नहीं आ पाती।

३. तुलसी ने सीता परित्याग और पाताल प्रवेश वाली घटनाएँ नहीं दिखाईं जिससे भी सीता की व्यथा और उनके धैर्य, त्याग, सहनशीलता आदि गुणों पर प्रकाश नही पड़ सका। यद्यपि यह प्रसंग प्रक्षिप्त माना जाता है किंतु तुलसी ने उसे प्रक्षिप्त नहीं माना है, क्योंकि उनके अन्य ग्रंथों मे संकेत रूप से इस घटना का वर्णन है।

५४. मानस, २ - २८६।
५५. वही, २-२८९-१।
५६. सीय सासु प्रति बेष बनाई। सादर करइ सरिस सेवकाई।
लखा न मरमु राम बिनु काहूँ। माया सब सिय माया माहूँ॥
२-२५१-२, ३

गंगा तो केवल तीन स्थानों हरिद्वार, प्रयाग और गंगासागर में पवित्र मानी जाती है, किंतु सीता की कीर्ति ने अनेक संत-समाज रूपी तीर्थ बना दिए हैं—

जिति सुरसरि कीरति सरि तोरी।
गवनु कीन्ह बिधि अंड करोरी॥
गंग अवनि थल तीनि बड़ेरे।
एहिं किए साधु समाज घनेरे॥ २-२८६-३,४

जनक का यह कथन सर्वथा सत्य है।

काव्यादर्श का रचनाकाल

जयशंकर त्रिपाठी

•

भारतीय काव्यशास्त्र में आचार्य दंडी का 'काव्यादर्श' काव्यशास्त्र की ऐतिहासिक सीमारेखा जैसी रचना है। इसमें काव्य के भेद, वाणी के मार्ग, गुण और अलंकारों की व्याख्या है। किंतु दंडी की मौलिकता केवल वैदर्भ तथा गौड मार्ग और उनके दस गुणों के विवेचन में है। यह विवेचन काव्यशास्त्र के इतिहास और विकास की कुंजी है। दंडी ने जिस रूप मे मार्ग और गुणों की स्थापना की है, वह शास्त्रीय आडंबर से शून्य है और कवियों की वाणी की सहज स्थिति का आकलन है। उनके परवर्ती किसी भी आचार्य ने इस व्याख्या की मूल प्रकृति को उद्घाटित करने की चेष्टा नहीं की। वामन और कुंतक द्वारा किया गया रीति, गुण तथा मार्ग का विवेचन शास्त्रीय महिमा से मंडित हो गया है। उसका मेल दंडी के मार्ग और गुणों की स्थापना से नहीं होता। इस दृष्टि से भी दंडी सदा नवीन और मौलिक ही बने रहे।

काव्यशास्त्र के क्षेत्र मे दंडी का आगमन तब हुआ जब गुण और मार्ग के स्वरूप के संबंध मे दाक्षिणात्य और पौरस्त्य कवि अथवा काव्य के आलोचक भावक अपनी अलग अलग मान्यता प्रस्तुत कर रहे थे। इन मान्यताओं पर विदग्धगोष्ठियों में चर्चाएँ हुआ करती थीं। कवित्वज्ञान की सार्थकता इन विदग्धगोष्ठियों के लिये ही थी—**विदग्धगोष्ठीषु विहर्तुमीशते**।[1] दंडी के सामने काव्यचर्चा का मुख्य विषय था—वैदर्भ तथा गौड मार्ग और उनके गुणों का स्वरूप। वैदर्भ की दूसरी संज्ञा दाक्षिणात्य थी तथा गौड की पौरस्त्य अथवा औदाक्षिणात्य। गुण दस थे जो समग्र रूप से, जैसा कि वे दंडी को इष्ट थे, वैदर्भ मार्ग मे ही पाए जाते थे। गौड मार्ग के कवियों द्वारा सभी गुणों का प्रयोग नहीं होता था और जिन गुणों का प्रयोग वे करते भी थे, उनमें कुछ का स्वरूप वैदर्भ अभिमत गुणों से भिन्न था। ऐसी समताओं और विषमताओं का उल्लेख दंडी ने स्पष्ट शब्दों में किया है—'दोनों मार्ग ऐसे प्रयोगों की

१. काव्यादर्श, १।१०५।

प्रशंसा नहीं करते'[2]; 'इसलिये ऐसे अनुप्रास का प्रयोग दाक्षिणात्य नहीं करते'[3]; 'समासबहुल ओज यद्यपि गद्य का जीवित है तो भी अदाक्षिणात्य पद्यमें भी ऐसे ओज के प्रयोग के प्रति अत्यंत अभिरुचि रखते हैं'।[4] इन उद्धरणों से यह पता चलता है कि उस समय गुण और मार्ग को लेकर अपनी अपनी मान्यताओं में काव्यविदग्ध कितने दत्तचित्त थे। ऐसे काव्यविदग्धों का आचार्यत्व दंडी ने किया।

एक दूसरा प्रश्न भी सामने आता है। दंडी के सामने काव्य के व्याख्यान को लेकर गूढ़ और नई समस्या क्या थी, जिसे सुलझाकर वे अपने पूर्ववर्ती आचार्यों को क्रांत कर सदा के लिये उदित हो गए। क्या वह समस्या गुण ही है, अलंकार नहीं? वस्तुतः वह समस्या गुणों के स्वरूप निर्धारण की थी, अलंकारों का विवेचन बहुत पुराना पड़ गया था। उसके प्रकारों, प्रयोगों, भेद विभेदों को लेकर दंडी के पूर्व एक सीमा तक पर्याप्त विवेचन प्रस्तुत हो चुके थे। अलंकारों का संप्रदायगत लक्षण और विभाजन नहीं था, जैसा कि गुणों के संबंध मे मान्यताओं का विभाग था। अलंकार-विवेचन दक्षिण अथवा पूर्व सभी के लिये पुराना, परिचित एवं निर्विवाद था। वह कवियों के लिये इतना सामान्य हो गया था कि अलंकारप्रयोग की नई नई उद्भावनाएँ निःसंशय की जाती थीं। दंडी ने ऐसा ही उल्लेख किया है—'काव्य के शोभाकर धर्मों को अलंकार कहते हैं, उन धर्मों के नए नए प्रयोग आज भी कल्पित किए जाते हैं इसलिये समग्र रूप से उनका व्याख्यान कौन कर सकता है? किंतु पूर्व के आचार्यों ने उन कल्पनाप्रकारों की मूल मान्यताओं का निर्देश किया है, उन प्रयोगों और मान्यताओं को विस्तार से प्रस्तुत करने के लिये मेरा यह परिश्रम है'।[5] इस कथन मे 'ते चाद्यापि विकल्प्यन्ते', 'पूर्वाचार्यैः प्रदर्शितम्' उल्लेखों से अलंकारविवेचन की दंडी से पूर्ववर्तिता स्पष्ट है।

दूसरी ओर गुणों के प्रसंग मे दंडी ने पूर्वाचार्यों का नाम नहीं लिया है और दाक्षिणात्य-पौरस्त्य संप्रदायों का समकालिक रूप में उल्लेख किया है। इससे सिद्ध है

२. एवमादि न शंसन्ति मार्गयोरुभयोरपि।—वही, १।६७।
३. अतो नैवमनुप्रासं दाक्षिणात्याः प्रयुञ्जते।—वही, १।६०।
४. ओजः समासभूयस्त्वमेतद्गद्यस्य जीवितम्।
पद्येऽप्यदाक्षिणात्यानामिदमेकं परायणम्॥ —वही, १।८०।
५. काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलङ्कारान् प्रचक्षते।
ते चाद्यापि विकल्प्यन्ते कस्तान् कार्त्स्न्येन वक्ष्यति॥
किन्तु बीजं विकल्पानां पूर्वाचार्यैः प्रदर्शितम्।
तदेव परिसंस्कर्तुमयमस्मत्परिश्रमः ॥—वही, २।१-२।

कि गुणों की मान्यता और उनके स्वरूपनिरूपण की समस्या सामयिक थी। उसको लेकर ही दंडी ने अपने समय के एक लंबे क्षेत्र के, जो विदर्भ से गौड़ तक फैला था, कवियों की रचनाविषयक मान्यताओं का मार्गदर्शन किया। काव्य के संबंध में गुण जैसे नए सिद्धांत का प्रतिपादन कर जो प्रकारांतर से सौशब्द्य (सुष्ठु शब्दों का प्रयोग) काव्य था, दंडी ने उसे भाव और अर्थ मूलक अलंकारसिद्धांत के समानांतर खड़ा किया। यह उस युग के काव्यविदग्धों का अभिमत था। दंडी द्वारा उसकी स्थापना काव्य जगत् की नई घटना थी। इसके लिये ही दंडी एक सर्वमान्य आचार्य के रूप में प्रतिष्ठित हो गए और उनका लक्षणग्रंथ 'काव्यादर्श' अपने पूर्ववर्ती ग्रंथों को तिरोहित कर काव्यशास्त्र के इतिहास की युगांतरकारी रचना बन गया।

यह घटना कब घटित हुई होगी? इस प्रश्न का संबंध काव्यशास्त्र के आविर्भाव और 'काव्यादर्श' के रचनाकाल से है। यहाँ इतना स्पष्ट कहा जा सकता है कि काव्य मे अलंकार की तुलना मे शब्द सौष्ठव प्रस्तुत करनेवाले प्रकारों का प्रयोग, जो गुण के पूर्वरूप थे, विक्रम की तीसरी शती से आरंभ हो गया था। उपमा, रूपक, दीपक आदि अलंकारों के स्थान पर शब्दसौष्ठव के ऐसे प्रकारों द्वारा काव्य के अलंकृत होने का उल्लेख विक्रमाब्द २०७ (शक ७२) के रुद्रदामन् के गिरनार शिलालेख में हुआ है।[६] इस काल के लगभग से ही शब्दकाव्य के प्रकार-गुणों की स्थापना के प्रति काव्यविदग्धों ने अपने विचारों का उन्नयन आरंभ किया होगा, जिसका प्रौढ़ निर्धारण दंडी ने किया। इसमे एक से दो शताब्दी तक का समय लग सकता है।

साथ ही इस घटना का काल अवश्य ही इसके पूर्व होगा, जब काव्य का महत्व बहुत ही व्यापक हो गया और भामह के शब्दों में काव्य धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की विचक्षणता का मूल एवं आनंद और कीर्ति का कारण बना।[७] क्योंकि दंडी के सामने काव्य केवल विदग्ध गोष्ठी का आनंद था, वह सभी शास्त्रों को आक्रांत कर इस प्रकार जीवन की सभी उपलब्धियों को देनेवाला नहीं था; यहाँ तक कि काव्य से अर्थलाभ का संकेत भी दंडी ने नहीं किया है। विदग्धगोष्ठी के आनंद के

६. स्फुट-लघु-मधुर-चित्र-कान्त-शब्द-समयोदारालंकृत-गद्य-पद्य [काव्यविधान प्रवीणेन] न··· ।—हिस्टारिकल ऐंड लिटरेरी इंस्क्रिप्शंस, पृ०, १४।

७. धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च।
प्रीतिं करोति कीर्तिं च साधुकाव्य-निबन्धनम्॥
—काव्यालंकार (भामह), १।२।

सभा में वहाँ श्रेष्ठ काव्य को प्रस्तुत करने के कारण कवि को कीर्ति अवश्य मिलती थी।[८] साथ ही दंडी के काव्य का दूसरा प्रयोजन काव्य के निबंधन में आदि काल के यशस्वी राजाओं की कीर्ति की सुरक्षा थी।[९] राजचरित का यह काव्यनिबंधन अर्थ के लोभ से नहीं होता था, जिसकी चर्चा भामह और रुद्रट ने की है, सही इतिहास लिखने के लिये था। दंडी के सीमित काव्यप्रयोजनों ने भामह युग से विस्तार प्राप्त किया और कवियों को विदग्धगोष्ठियों से हटाकर अर्थलोभ से राजसभा में पहुँचाया। वहाँ वे राजा के झूठे यश के लिये काव्य का दुरुपयोग करने लगे।[१०]

अतः भारतीय काव्यशास्त्र के इतिहास मे अर्थमूलक अलंकार उद्भावना के विरुद्ध सौशब्द्य काव्य की जोरदार भाषाक्रांति का, जो गुण और मार्ग के रूप में परिणमित हुई, ऐतिहासिक अभिलेख जैसा है दंडी का 'काव्यादर्श'। इसमे उस युग के विदर्भ के (अर्थात् दाक्षिणात्य) कवियों की काव्यमान्यताओं का आकलन हुआ है, जो बाद मे औदीच्य (काश्मीरक) आचार्यों द्वारा नई मान्यताएँ प्रस्तुत किए जाने पर चर्चा का विषय न रहीं। उनकी व्याख्या का किंचित् स्पर्श केवल भोजराज (११वीं शती ई०) ने किया।

इस प्रकार दंडी और उनके 'काव्यादर्श' का स्थान भारतीय काव्यशास्त्र के इतिहास के आरंभिक पृष्ठों मे ही है। उनके साथ 'काव्यालंकार' के कर्ता भामह की भी गिनती की जाती है। परंतु दंडी का समय अब तक बड़ा विवादास्पद माना जाता है। कुछ विद्वान् 'काव्यादर्श' को भामह की परवर्ती रचना मानकर उसके समय संबंधी आकलन को और भी उलझाये हुए हैं।

डा० सुशीलकुमार डे के शब्दों मे 'अलंकार साहित्य के कालक्रम में 'काव्यादर्श' के रचयिता दण्डिन् का कालनिर्णय एक अत्यंत कठिन समस्या है।'[११] यह कठिन समस्या कई रूपों मे हमारे सामने आती हैं—

८. तदस्ततन्द्रैरनिशं सरस्वती श्रमादुपास्या खलु कीर्तिमीप्सुभिः।
कृशे कवित्वेऽपि जनाः कृतश्रमा विदग्ध गोष्ठीषु विहर्तुमीशते॥
—काव्यादर्श, १।१०५।

९. आदिराजयशोबिम्बमादर्शं प्राप्य वाङ्मयम्।
तेषामसन्निधानेऽपि न स्वयं पश्य नश्यति॥ —वही, १।५

१०. काव्यालंकार (भामह), १।२; काव्यालंकार (रुद्रट), १।५,८,१०।

११. हिस्टरी आव् संस्कृत पोएटिक्स, खंड १, पृ० ५७।

क–दंडी और भामह में प्रथम आचार्य कौन है ?

ख–सूक्तिसंग्रहों में राजशेखर की एक उक्ति दंडीकृत प्रबंधों की तीन संख्या के संबंध में मिलती है, वे तीन प्रबंध कौन से हैं ?

ग–क्या 'काव्यादर्श' और 'दशकुमारचरित' के रचयिता एक ही दंडी हैं ?

घ–काव्यादर्श के द्वितीय परिच्छेद की २७९वीं कारिका में समकालिक राजा रातवर्मा का नाम आया है, यह राजा कौन है और इसका समय क्या है ?

ङ–कवयित्री विज्जका ने दंडी को उपालंभ दिया है कि उन्होंने कुवलयदल के समान श्यामाभ साक्षात् सरस्वती विज्जका को न जानते हुए सरस्वती को शुक्लवर्णा क्यों कहा ? इस विज्जका का समय क्या है ? और क्या 'कौमुदीमहोत्सव' नाटक की कर्त्री विज्जका है ?

च–प्राकृत महाकाव्य 'सेतुबंध' का रचयिता प्रवरसेन है। परंतु वाकाटक सम्राट् दो प्रवरसेनों में वह कौनसा है ? दंडी ने 'सेतुबंध' की सूक्तियों की बड़ी प्रशंसा की है। 'सेतुबंध' का रचनाकाल दंडी के काल निर्धारण की पूर्व सीमा है।

उक्त समस्याओं के साथ साथ यहाँ 'काव्यादर्श' के रचनाकाल पर विचार अभीष्ट है—

दंडी और भामह में पूर्ववर्ती कौन ?

दंडी के 'काव्यदार्श' और भामह के काव्यालंकार में निरूपित विषयों के साम्य और कहीं एक दूसरे के मत का खंडन देखकर इनके काल के संबंध में धारणा व्यक्त करनेवाले विद्वानों के तीन वर्ग हैं—

१. वे विद्वान् जो दंडी को पूर्व मानते हैं – काव्यालंकार (रुद्रट) के टीकाकार नमिसाधु (११वीं शती ई०), श्री एम० टी० नरसिंह आयंगर (जर्नल आव् रायल एशियाटिक सोसायटी आव् ग्रेट ब्रिटेन, सन् १९०५), प्रो०ए०बी० कीथ (हिस्टरी आव् संस्कृत लिटरेचर)।

२. वे विद्वान् जो भामह को पूर्ववर्ती मानते हैं—'काव्यादर्श' की हृदयंगमा टीका लिखनेवाले तरुणवाचस्पति (१२वीं शती ई०), श्री के० जी० त्रिवेदी (प्रतापरुद्र-यशोभूषण की भूमिका) डा० जैकोबी, प्रो० रंगाचार्य ('काव्यादर्श' की भूमिका), श्री गणपतिशास्त्री ('स्वप्नवासवदत्तम्' की भूमिका), प्रो० पाठक ('कविराजामार्ग' की भूमिका), डा० सुशीलकुमार डे (हिस्टरी आव् संस्कृत पोएटिक्स)।

बाद में प्रोफेसर पाठक ने अपना मत बदल दिया और दंडी को पूर्ववर्ती माना।

३. वे जो दंडी और भामह को समकालिक मानते हैं—महामहोपाध्याय पांडुरंग वामन काणे (हिस्टरी आफ संस्कृत पोएटिक्स)।

प्रायः यह कहा जाता है कि अमुक स्थल पर भामह दंडी की आलोचना कर रहे हैं अथवा दंडी भामह की आलोचना कर रहे हैं, किंतु न तो भामह ने दंडी का नाम लिया है और न दंडी ने भामह का। यह भी सत्य है कि एक ही प्रसंग में और एक ही उदाहरण के संबंध में दोनों ग्रंथों में परस्पर विरुद्ध बातें कही गई हैं। अतः इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि यह वैमत्य दंडी और भामह का नहीं था, वरंच दो संप्रदायों के अपने अपने सिद्धांतों और मान्यताओं का था, जिनका उल्लेख दंडी ने गुण निरूपण के प्रसंग मे दाक्षिणात्य और अदाक्षिणात्य (पौरस्त्य) के नाम से किया है एवं उनकी मान्यता के स्वरूपों की भिन्नताओं को भी स्पष्ट किया है। दंडी के सामने दाक्षिणात्य काव्यसंप्रदाय की मान्यताएँ बहुत ऊँची उठ चुकी थीं, पीछे अदाक्षिणात्यों (पौरस्त्यों) का भी विस्तार हुआ और बाद मे वह औदीच्य के रूप में परिवर्तित हो गया। औदीच्य आचार्यों मे भामह के बाद से ही साहित्यचर्चा का उत्थान इतने वेग से हुआ कि पुनः दाक्षिणात्य काव्यसप्रदाय की ख्याति ही धुँधली हो गई।

यदि हम इस तथ्य को स्वीकार करते हैं कि जहाँ कहीं दंडी-भामह का जो विरोध है वह काव्यसंप्रदायों की मान्यता का है तो दंडी के दाक्षिणात्य सप्रदाय की पूर्ववर्तिता और भामह की परिस्थिति अपने आप सिद्ध है, क्योंकि वैदर्भमार्ग के प्रतिष्ठापक दाक्षिणात्यों का काव्य जगत् मे अभ्युदय पहले हुआ है। यह न केवल दंडी के काव्यादर्श से सिद्ध है, जिसमें वैदर्भ मार्ग के गुणों की संख्या दस है और गौड मार्ग मे उससे कम गुण पाए जाते हैं, वरन्च भामह का काव्यालंकार भी इसका संकेत देता है कि उनके सामने वैदर्भ मार्ग अधिक प्रसिद्ध एवं प्रशंसित था— **वैदर्भमन्यदस्तीति मन्यन्ते सुधियोऽपरे** (१।३०) जो उनको स्वीकार नहीं था और इसी लिये अपने विरोध के फलस्वरूप वे गौड मार्ग को भी कम अच्छा नहीं समझते थे— **गौडीयमपि साधीयो वैदर्भमिति नान्यथा** (१।३५)।

भामह ने गौडीय काव्य को ऊँचा उठाने के लिये उसमें जिन वैशिष्ट्यों के समावेश की सलाह दी है, वे वैशिष्ट्य वस्तुतः दंडी के सामने वैदर्भ काव्य में ही पाए जाते थे, जैसे—अग्राम्यता, अनाकुलता (वर्णों के जटिल बंध का अभाव), अर्थ की संभावित कल्पना जो लोकसीमा को न लाँघ जाय।[१२] और दूसरी ओर गौडमार्गी कवि आकुल वर्णबंध, अनुप्रास का आडंबर, अर्थ में लोकसीमा का अतिक्रमण ही पसंद करते थे।[१३] केवल अग्राम्यता के संबंध में वैदर्भ और गौड एकमत थे।[१४]

१२. काव्यादर्श, १।६०, ८३, ८५।
१३. वही, १।५०, ५४, ६२।
१४. वही, १।६७।

भामह ने निष्पक्ष होकर गौडीय कवियों को तीनों दोषों से मुक्त होने की सलाह दी—'यदि गौडीय काव्य भी अलंकारवान्, ग्राम्यतारहित न्याय्य (लोकसंभावित) अर्थ से युक्त और अनाकुल है तो अच्छा है। एवं इन विशेषताओं से रहित होने पर वैदर्भ भी अच्छा काव्य नहीं है।'[१५] वैदर्भ काव्य में इन विशेषताओं के अतिरिक्त श्रुत्यनुप्रास और सुकुमार बंध के प्रयोग भी विशिष्ट अभिज्ञान थे जिनकी चर्चा दंडी ने माधुर्य (१।५१) और सुकुमार (१।६९) गुणों के प्रसंग में की है। भामह ने इन विशेषताओं से युक्त वैदर्भ काव्य को केवल श्रुतिपेशल संगीत माना है, काव्य नहीं— **प्रसन्नमृजु कोमलम्। भिन्न गेयमिवेदं तु केवलं श्रुतिपेशलम्** (१।३४)।

ऊपर के कथन से यह स्पष्ट है कि दंडी ने गौडकाव्य में जिन अभावों की ओर निर्देश किया था, भामह ने उनको स्वीकार किया और उन अभावों को दूर कर गौडीय काव्य के रूप में सच्चे काव्य का अभिज्ञान प्रस्तुत किया। अपने श्रुत्यनुप्रास तथा कोमलबंध के लिये जो वैदर्भ काव्य दंडी द्वारा प्रशंसित हुआ था, भामह ने इन्हीं विशेषताओं के कारण उसे संगीत (गेयमिवेदम्) कह दिया और काव्य नहीं माना। भामह की मनोवृत्ति स्पष्ट है—ये काव्य के क्षेत्र में दाक्षिणात्यों (वैदर्भों) की प्रशंसा और मान्यता का तिरस्कार करना चाहते हैं। गौड कवियों को उनकी तुलना में ऊँचा उठाना चाहते हैं। नहीं तो जहाँ उन्होंने **गौडीयमपि साधीयः** कहा, वहाँ 'वैदर्भमपि साधीयः' कह सकते थे। काव्यविद्या के क्षेत्र में वैदर्भों के प्रतिनिधित्व को समाप्त करने जैसा उनका संकल्प है। दंडी अपने काव्यादर्श में वैदर्भ काव्य के प्रति इतने पक्षारूढ़ नहीं हैं, जितने भामह गौडीय काव्य के प्रति। दंडी ने दोनों मार्गों की समानताओं का भी उल्लेख किया है, उनके समाधिगुण का अनुसरण सभी कवि करते हैं न कि केवल वैदर्भ कवि। अर्थात् भामह ने गौड मार्गों के सबंध में दंडी की मान्यताओं की आलोचना की है और दंडी उनके पूर्ववर्ती हैं।

इसी प्रकार भामह द्वारा दाक्षिणात्य काव्यसंप्रदाय की मान्यताओं की आलोचना के अन्य प्रसंग भी हैं, जो दंडी के 'काव्यादर्श' में उसी रूप में निबद्ध हैं। उनमें से कुछ मुख्य प्रसंग ये हैं—

१. दंडी ने स्वभावोक्ति को आदि और अत्यंत प्रसिद्ध अलंकार माना है—

स्वभावोक्तिश्च जातिश्चेत्याद्या सालंकृतिर्यथा॥ (२।८)
शास्त्रेष्वस्यैव साम्राज्यं काव्येष्वप्येतदीप्सितम्॥ (२।१३)

१५. अलङ्कारवदग्राम्यमर्थ्यं न्याय्यमनाकुलम्।
गौडीयमपि साधीयो वैदर्भमिति नान्यथा॥—काव्य० (भामह) १।३५।

दंडी की इस मान्यता की उपेक्षा करते हुए भामह ने कहा है—कुछ लोग स्वभावोक्ति को भी अलंकार कहते हैं—

स्वभावोक्तिरलङ्कार इति केचित्प्रचक्षते। (२।९३)

२. दंडी का कांति गुण वार्ता काव्य में व्यवहृत होता है (१।८५) और गतोऽस्तमर्को भातीन्दुर्यान्ति वासाय पक्षिणः। (२।२४४) उनके कारक हेतु अलंकार का उदाहरण है।

भामह ने एक ही साथ न वार्ता को काव्य माना है और न उक्त उदाहरण में कोई अलंकारिता—(क्योंकि उनकी दृष्टि में वह वक्रोक्तिहीन उक्ति है और दंडी की मान्यता में वह स्वभावोक्ति से अनुप्राणित है)—

हेतुश्च सूक्ष्मो लेशोऽथ नालङ्कारतया मतः।
समुदायाभिधानस्य वक्रोक्त्यनभिधानतः॥
गतोऽस्तमर्को भातीन्दुर्यान्ति वासाय पक्षिणः।
इत्येवमादि किं काव्यं वार्त्तामेनां प्रचक्षते॥

(२।८६,८७)

३. उत्प्रेक्षा दाक्षिणात्यों का प्रिय अलंकार है। दंडी ने न केवल उसका निरूपण किया है, वरंच ऐसे स्थलों पर जहाँ उपमा की भ्रांति हो सकती है उन्होंने उपमा-उत्प्रेक्षा की सीमा रेखाओं को स्पष्ट कर दिया है। (२।२२६-२३३)।

भामह ने संभवतः दंडी के इसी निरूपण से उत्प्रेक्षा को अलंकार स्वीकार कर लिया है क्योंकि भामह के पूर्ववर्ती मेधावी ने, जिनके मतों का उन्होंने सम्मान के साथ उल्लेख किया है, उत्प्रेक्षा की चर्चा नहीं की है—

संख्यानमिति मेधावी नोत्प्रेक्षाभिहिता क्वचित्। (२।८८)

४. दंडी ने उपमा के चार दोषों की ओर निर्देश किया है—

न लिंगवचने भिन्ने न हीनाधिकतापि वा।
उपमादूषणायालं यत्रोद्वेगो न धीमताम्॥ (२।५१)

और मेधावी ने सात दोषों की ओर। भामह मेधावी के मत को उद्धृत करते हैं—

हीनताऽसम्भवो लिंगवचोभेदो विपर्ययः।
उपमानाधिकत्वं च तेनासदृशतापि च॥
त एत उपमादोषाः सप्त मेधाविनोदिताः। (२।३९-४०)

जब कि स्थिति यह है कि दंडी के जैसा उपमा का विस्तृत निरूपण किसी ने किया ही नहीं। अतः मेधावी जो उपमा के सात दोषों की खोज करते हैं, चार दोषों की ओर निर्देश करनेवाले दंडी के परवर्ती हैं और भामह मेधावी के परवर्ती हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि काव्यालंकार (रुद्रट) के टीकाकार नमि साधु (११वीं शती ई०)

ने इन आचार्यों का जो क्रमोल्लेख किया है वह बहुत सही है—ननु दण्डि मेधाविरुद्र-भामहादिकृतानि सन्त्येवालंकारशास्त्राणि तत्किमर्थमिदं पुनरिति पौनरुक्त्यदोषं क्रियाविशेषणेन निरस्यन्नाह यथायुक्तीति (१।२)। अतः दंडी सर्वप्रथम आचार्य हैं।

५. दाक्षिणात्य काव्यसंप्रदाय की मान्यताएँ गौडों से होकर औदीच्यों में पहुँची हैं। कारण, पाटलिपुत्र गुप्तसाम्राज्य की राजधानी था। किसी समय राजधानी होने के कारण ही उज्जयिनी तथा पाटलिपुत्र में काव्यकारों एवं शास्त्रकारों की शिक्षा होती थी।[१६] वैदर्भों का केंद्र उज्जयिनी है और गौडों का पाटलिपुत्र। गौडीय कवि सर्वथा वैदर्भों के अनुगामी नहीं होते थे। उन्होंने दंडी के निरूपित उपमा अलंकार के समस्त भेदों को नहीं, कुछ को ही स्वीकार किया। जिनको स्वीकार किया उनकी ही चर्चा पाञ्चाल (औदीच्य) काव्यगोष्ठियों में हुई। भामह को दंडी की मान्यताएँ गौडों के माध्यम से मिली हैं। इसी लिये उन्होंने दंडी के निरूपित उपमाभेदों में चार का ही नाम निर्देश-पूर्वक खंडन किया है—

> यदुक्तं त्रिप्रकारत्वं तस्याः कैश्चिन्महात्मभिः।
> निन्दा प्रशंसा चिख्यासा भेदादत्राभिधीयते।
> सामान्यगुण निर्देशात्त्रयमप्युदितं ननु।
> मालोपमादिः सर्वोऽपि न ज्यायान्विस्तरो मुधा॥
>
> (२। ३७–३८)

अन्य भेदों को गौडों ने ही स्वीकार किया होगा। अतः भामह के लिये उनके प्रत्याख्यान की आवश्यकता नहीं थी। इससे यह भी प्रतीत होता है कि दंडी और भामह के काल का अंतर एक शती से कम न रहा होगा।

६. एक अन्य संभावना भी सामने आती है कि 'काव्यादर्श' का तृतीय परिच्छेद किसी अन्य की रचना है। अतः उस परिच्छेद में निरूपित यमक को यदि छोड़ दिया जाय तो प्रथम परिच्छेद में दंडी ने जो यमक को माधुर्य गुण के अनुकूल नहीं कहा है, यह कथन यमक को दंडी की दृष्टि में हेय नहीं ठहराता केवल नैकान्तमधुरम् (१।६१) निर्दिष्ट करता है। यह ठीक भी था, क्योंकि वैदर्भ जब श्रुत्यनुप्रास के अतिरिक्त वर्णावृत्ति अनुप्रास को भी माधुर्य गुण का पोषक नहीं मानते (१।५५,६०) तब वर्णसंघात की आवृत्ति यमक को उसका पोषक कैसे स्वीकार करते (१।६१)।

१६. श्रूयते चोज्जयिन्यां काव्यकारपरीक्षा।
श्रूयते च पाटलिपुत्रे शास्त्रकारपरीक्षा।
—काव्यमीमांसा (बि० रा० प० पटना) पृ० १३४१–३५।

भामह के सामने दंडी की अपेक्षा यमक के गूढ़ रूप अधिक प्रयुक्त हो रहे थे, जिनकी उन्होंने निंदा की है। ऐसे यमक रामशर्मा के अच्युतोत्तर में प्रयुक्त हुए थे—

नानाधात्वर्थ गम्भीरा यमकव्यपदेशिनी।
प्रहेलिका सा ह्युदिता रामशर्माच्युतोत्तरे॥
काव्यान्यपि यदीमानि व्याख्यागम्यानि शास्त्रवत्।
उत्सवः सुधियामेव हन्त दुर्मेधसो हताः॥ (२।१६–२०)

७. दंडी के सामने अलंकारों का शब्द अर्थ गत कोई विभाग नहीं था। उन्होंने काव्यशरीर अलंकार, मार्ग और गुणों का निरूपण किया है।

भामह के समय तक काव्यचिंतन आगे बढ़ चुका था, शब्दालंकार और अर्थालंकार के सौष्ठव और श्रेष्ठता को लेकर परस्पर खींचातानी हो रही थी। भामह ने उस खींचातानी पर अपना मत व्यक्त किया है—

शब्दाभिधेयालंकारभेदादिष्टं द्वयं तु नः॥ (१।१५)

८. दंडी ने प्रेक्षार्थ काव्य के तीन भेदों का ही उल्लेख किया है—

लास्य-च्छलित-शम्पादि — प्रेक्षार्थम् (१।३६)।

भामह के सामने प्रेक्षार्थ काव्य के अन्य भेदों की भी अवतारणा बहुत स्फुट रूप से हो चुकी थी और उसे नाटक (दृश्य काव्य) के ही समीप माना जा रहा था—

सर्गबन्धोऽभिनेयार्थं तथैवाख्यायिकाकथे। (१।१८)
नाटकं द्विपदीशम्पारासकस्कन्धादि यत्।
उक्तं तदभिनेयार्थमुक्तोऽन्यैस्तस्य विस्तरः॥ (१।२४)

९. कथा और आख्यायिका के संबंध में दाक्षिणात्यों तथा गौडों का विवाद रहा होगा। गौड दोनों को अलग अलग विधा स्वीकार करते थे। उनमें से एक लक्षण यह भी था कि आख्यायिका का वक्ता स्वयं नायक होता है और कथा का दूसरा। दंडी ने इस विवाद का पटाक्षेप किया और इन दोनों संज्ञाओं को काव्य की एक ही जाति (विधा) स्वीकार किया—

अपि त्वनियमो दृष्टस्तत्राप्यन्यैरुदीरणात्।
अन्यो वक्ता स्वयं वेति कीदृग्वा भेदकारणम्॥ (१।२५)
तत् कथाख्यायिकेत्येका जातिः संज्ञाद्वयाङ्किता। (१।२८)

भामह ने दंडी की मान्यताओं का विरोध किया और आख्यायिका तथा कथा की स्वरूपभिन्नता को स्फुट रूप में रखने का प्रयत्न किया। लेकिन वस्तुतः वे दाक्षिणात्यों के मान्य आचार्य की स्थापना के विरोधभाव से ही प्रेरित थे, अतः आख्यायिका में जहाँ वे नायक द्वारा अपना इतिवृत्तकथन उसका लक्षण मानते हैं

वहाँ कथा के लक्षण में कहते है कि कथा का वक्ता स्वयं नायक नहीं हो सकता, क्योंकि कोई कुलीन व्यक्ति अपने गुणों का वर्णन स्वयं कैसे करेगा—

वृत्तामाख्यायते तस्यां नायकेन स्वचेष्टितम्। (१।२६)
स्वगुणाविष्कृतिं कुर्यादभिजातः कथं जनः॥ (१।२६)

भामह के निरूपण से एक बात और स्पष्ट होती है कि अब आख्यायिका इतिहास या राजचरितों के वृत्त को लेकर लिखी जाती थी और कथा मे आदर्श के अनुसार कल्पित चरित और वस्तु का निबंधन होता था जो दंडी के परवर्ती काल की स्थिति थी।

१०. किसी विधा को पहली बार शास्त्रीय रूप देने में अपने से पूर्व के आचार्यों के निरूपण का आधार लेना पड़ता है और उसी को विस्तार कर शास्त्रीय रूप दिया जाता है। दंडी के सामने यही स्थिति थी, वे कहते हैं—'पूर्व के शास्त्रों का संग्रह कर, उनके प्रयोगों को देखकर यथाशक्ति काव्यलक्षण का विवेचन करता हूँ।'[१७] 'अलंकारों के भेदों का आज भी विकल्प होता है। निःशेष रूप से उनका व्याख्यान भला कौन कर सकता है। किंतु पूर्व के आचार्यों ने उनके भेद-विकल्पों के बीज का निर्देश किया है, उसी के परिवर्धन के लिये मेरा यह परिश्रम है।'[१८]

किंतु भामह के समक्ष स्थिति दूसरी थी। काव्यलक्षण को शास्त्रीय रूप मिल चुका था। अतः अब नया आचार्य पूर्व के शास्त्रों के संग्रह करने में अपने कर्तव्य की इतिश्री नहीं समझ सकता था। संगृहीत शास्त्र मे तथ्य एवं अतथ्य के विभाजन तथा स्थापनाओं की नई सूझ बूझ की ओर ही उसकी प्रतिभा का झुकाव होगा। भामह ने अपने ऐसे संकल्प का स्वयं कथन किया है—'मैंने अपनी बुद्धि से स्वयं निश्चय कर वाणी के अलंकार-प्रकार का विस्तार से वर्णन किया है।'[१९]

दोनों आचार्यों के ग्रंथ-निर्माण संबधी उक्त संकल्पों को समझते हुए इस निर्णय पर संदेह ही नहीं किया जाना चाहिए कि दंडी पहले हुए और भामह बाद में।

ऊपर दंडी और भामह के ग्रंथों से विषयनिरूपण, स्थापना और आलोचना के जो अंश उद्धृत है उनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि भामह गौडीय काव्य की

१७. काव्यादर्श, १।२।
१८. वही, २।१-२।
१९. गिरामलंकार विधिः सविस्तरः
स्वयं विनिश्चित्य धिया मयोदितः।
— काव्यालंकार (भामह) १।५८।

उत्कृष्टता स्थापित करना चाहते हैं, जो दंडी के समक्ष वैदर्भकाव्य से व्यापकता में न्यून था और स्वयं उनकी दृष्टि मे अनभिमत काव्य था। भामह ने वैदर्भ (दाक्षिणात्य) काव्य की उन मान्यताओं की आलोचना की है जो दंडी के काव्यादर्श में स्थापित की गई हैं। ये तथ्य यह इतिहास प्रकट करते हैं कि दंडी पहले हुए और भामह बाद मे।

किंतु भामह का समय भी अनिश्चित है। प्रोफेसर ए० बी० कीथ और म० म० पी० वी० काणे भामह को ७०० ई० के पहले नहीं मानते। डा० गणेश त्र्यंबक देशपांडे अपने भारतीय साहित्यशास्त्र मे भामह का समय ६०० ई० के आसपास स्वीकार करते हैं। प्रोफेसर देवेंद्रनाथ शर्मा ने भामह का समय बाणभट्ट के पूर्व और दिङ्नाग (४०० ई०) के बाद ५०० ई० से ५५० ई० के बीच माना है।[२०] अतः दंडी को इसके पहले होना चाहिए।

राजशेखर की उक्ति : दंडी के तीन प्रबंध

राजशेखर ने अपनी एक उक्ति मे दंडी की प्रशस्ति की है –

त्रयोऽग्नयस्त्रयो वेदास्त्रयो देवास्त्रयो गुणाः।
त्रयो दण्डिप्रबन्धाश्च त्रिषुलोकेषु विश्रुताः॥[२१]

यह उक्ति काव्यमीमांसाकार राजशेखर की है जो वैदर्भ काव्यपद्धति के अनुयायी हैं और जिनकी समाधिगुणशालिनी रचनाओं की प्रशंसा हुई है। राजशेखर का समय पहले कन्नौज के प्रतिहार नरेशों—महेंद्रपाल और महिपाल के आश्रय मे बीता था। राष्ट्रकूट और कलचुरि नरेशों की संमिलित सेना ने जब प्रतिहार नरेश महिपाल को पराजित किया तब से वे कलचुरियों की राजधानी त्रिपुरी मे आकर रहने लगे और संभवतः यहीं (१०वीं शताब्दी ई० के प्रारभ मे) 'काव्यमीमांसा' की रचना की। 'काव्यमीमासा' मे उन्होंने कहीं भी दंडी का नाम नहीं लिया है, न तो दडी के नाम से किसी मत-सिद्धांत का उल्लेख किया है, जब कि त्रिपुरी मे रहने और वैदर्भमार्ग का अनुयायी होने से दडी का उल्लेख उनके लिये आवश्यक था। पर ऐसा राजशेखर ने किया नहीं। हाँ, 'काव्यादर्श' के दीपक अलंकार मे दिया गया एक उदाहरण (चरन्ति चतुरम्भोधि०, २।९९) उनकी 'काव्यमीमासा' मे बिना किसी नाम के अनुवृत्ताख्यात के उदाहरण मे रखा गया है। प्रायः शास्त्रीय ग्रंथों को लक्षणग्रंथ कहने की परिपाटी है, प्रबंधग्रंथ कहने की नहीं। अतः उक्त प्रशस्ति में दंडी के

२०. द्रष्टव्य—काव्यालंकार (बि० रा० प०, पटना), पृ० १७५-१७७।
२१. शार्ङ्गधरपद्धति, १७४; सूक्तिमुक्तावली, ४।७४।

तीन प्रबंधों के उल्लेख में 'काव्यादर्श' और उसके कर्ता दंडी का ग्रहण नहीं किया जाना चाहिए।

एक बात और है। राजशेखर की यह प्रशस्ति यथार्थ उक्ति नहीं है। उन्होंने एक ही दंडी के नाम से ख्यात तीन ग्रंथों की लोकप्रसिद्धि का अतिरंजना के साथ वर्णन किया है, अर्थात् 'तीनों' लोकों में इनकी प्रसिद्धि है—तीन अग्नि, तीन वेद, तीन देव, तीन गुण और दंडी के तीन प्रबंध। जैसे वेद, अग्नि, देव और गुण के रहस्यों का कोई अंत नहीं मिलता वैसे ही दंडी के नाम से प्रसिद्ध तीनों प्रबंध भी रहस्यमय हैं। संभवतः ये तीन प्रबंध हैं—दशकुमारचरित, अवंतिसुंदरी कथा और भोज के 'शृंगारप्रकाश' में उल्लिखित द्विसंधान महाकाव्य। 'द्विसंधान महाकाव्य' आज उपलब्ध नहीं है। इनमें कोई भी रचना 'काव्यादर्श' के रचयिता की नहीं है और 'द्विसिद्धांत महाकाव्य' तो बिल्कुल नहीं, क्योंकि उसमे श्लेष से संपूर्ण काव्य का प्रत्येक छंद रामायण-महाभारत-परक दो दो अर्थों का बोध कराता है। 'काव्यादर्श' में श्लेष के जैसे जटिल प्रयोगों की ओर संकेत भी नहीं है। वहाँ तो श्लेष उपमा आदि अलंकारों में, विशेषतः वक्रोक्तिमूलक अलंकारों मे श्लेषमूलक एक दो शब्दों के संनिवेश से छटा उत्पन्न करने के लिये प्रयुक्त होता है।[२२] 'अवंतिसुंदरी कथा' बाणभट्ट (७वीं शती ई० पूर्वार्ध) के बाद की रचना है।[२३] और जब दंडी भामह (५५० ई०) के पूर्व सिद्ध होते हैं तब यह कथा काव्यादर्शकार दंडी की कृति कैसे हो सकती है ?

अतः राजशेखर की उक्ति को लेकर काव्यादर्श के रचयिता दंडी की तीन कृतियों की खोज नहीं करनी चाहिए। दंडी नाम के और भी लेखक थे, सत्य यह है।

'काव्यादर्श' और 'दशकुमारचरित'

उक्त दोनो ग्रंथ एक ही दंडी की कृति माने जाते रहे हैं। सन् १९१५ में श्री गणेश जनार्दन आगशे ने सर्वप्रथम यह प्रश्न उठाया कि 'काव्यादर्श' का रचयिता

२२. काव्यादर्श, २।३६३।

२३. भिन्नस्तीक्ष्णमुखेनापि चित्रं ·· ···।

× × ×

व्याहारेषु जहौ लीलां न मयूरः ··· ··· ॥

न प्रमदस्पृशः कादम्बरीरसावितृष्णश्च,

५ (७१-२) —अवंतिसुंदरी कथा, आरंभश्लोक १६, पृ० २० ।

'दशकुमारचरित' का लेखक नहीं हो सकता।[२४] पुनः 'दशकुमारचरित' की भूमिका में अपनी इस स्थापना को उन्होंने विस्तार से रखा।[२५] उन्होंने कहा है कि 'काव्यादर्श' में जिन दोषों से विशेषतः ग्राम्यता दोष और जटिल शब्दगुंफन से काव्य को मुक्त रखने का निर्देश किया गया है, वे सब 'दशकुमारचरित' में पाए जाते हैं। उन्होंने 'काव्यादर्श' का रचनाकाल ७वीं शती ई० उत्तरार्ध और 'दशकुमारचरित' का १२वीं शती ई० उत्तरार्ध माना है।[२६] यहाँ श्री आगशे महोदय ने 'काव्यादर्श' के तृतीय परिच्छेद में आए 'चतुःस्थाननियम' शब्दचित्र की चर्चा नहीं की है, जिसका ही पालन कर 'दशकुमारचरित' का सप्तम उच्छ्वास ओष्ठ्य वर्णों से रहित लिखा गया है। श्री आगशे जी का कथन अपने स्थान पर ठीक है। 'काव्यादर्श' का तृतीय परिच्छेद भी मूल 'काव्यादर्श' के लेखक की रचना नहीं है, चित्रमार्ग के निरूपण से पूर्ण करने के लिये किसी ने इस परिच्छेद को बाद में लिखकर मिलाया। तृतीय परिच्छेद का रचनाकाल और 'दशकुमारचरित' का रचनाकाल एक ही संभव हो सकता है। तृतीय परिच्छेद का स्थान नियम प्रथम परिच्छेद के श्रुत्यनुप्रास नियम के, जो माधुर्य गुण का सहयोगी है, विपरीत (एवं परवर्ती) पड़ता है और इस श्रुत्यनुप्रास का यही विरोध 'दशकुमारचरित' के ओष्ठ्य वर्ण रहित सप्तम उच्छ्वास से है जो शब्दचित्र मार्ग के निदर्शन की ओर उन्मुख है। किंतु जैसा कि श्री आगशे जी कहते हैं—'दशकुमारचरित' का रचनाकाल १२वीं शती ई० नहीं होगा। 'काव्यादर्श' की रचना से सौ वर्ष बीतने के बाद कभी 'दशकुमारचरित' की रचना हुई।

डा० रांगेय राघव ने भी श्री आगशे जी की स्थापना को दुहराया है। उनका कहना है कि 'दशकुमारचरित' का लेखक यथार्थ परिस्थितियों के चित्रण में रुचि रखता है और 'काव्यादर्श' शिष्ट साहित्य के नियम प्रस्तुत करनेवाला ग्रंथ है, अतः दोनों ग्रंथ एक ही लेखक की कृति नहीं हैं। किंतु डा० रांगेय राघव भी 'दशकुमारचरित' का रचनाकाल छठी शती ई० से बाद नहीं मानते, उनका मत तो यह है कि 'दशकुमारचरित' भास के बाद और कालिदास के पूर्व 'मृच्छकटिक' की समकालीन की रचना है।[२७]

२४. द रोट दि दशकुमारचरित, दि इंडि० एँटि०, मार्च, १६१५, पृ०—६७ ६८।
२५. दशकुमारचरित (बांबे संस्कृत सीरीज), भूमिका।
२६. वही, द्वितीय संस्करण, भूमिका, पृ० ३५—४७।
२७. दशकुमारचरित (हिंदी रूपांतर) भूमिका, पृ० २४।

महामहोपाध्याय वासुदेव विष्णु मिराशी ने 'दशकुमारचरित' के अष्टम उच्छ्वास (विश्रुतचरित) में वर्णित राजनीतिक स्थिति के आधार पर उसका ऐतिहासिक लेखा जोखा करते हुए 'दशकुमारचरित' के लेखक दंडी को ५५० ई० के बाद नहीं माना है।[२८] और जब 'काव्यादर्श' उससे एक शती पूर्व की रचना होगा तब उसका काल ४०० ई० के आस पास होना चाहिए। मिराशी जी ने अपने लेखे जोखे मे 'काव्यादर्श' की कोई चर्चा नहीं की है।

आगे इस विवेचन के प्रसग मे हम देखेंगे कि 'दशकुमारचरित' की कथा मे जैसी राजनीतिक उथल पुथल के संकेत मिलते हैं, 'काव्यादर्श' के कुछ प्रसग उसकी विपरीत स्थिति के द्योतक है।

रात (राज) वर्मा का उल्लेख

वक्तृप्रेयोऽलंकार का उदाहरण दंडी ने शिवभक्त राजा रातवर्मा (राजवर्मा) के स्वकथन के रूप में दिया है —

> सोमः सूर्यो मरुद्भूमिर्व्योम होतानलो जलम्।
> इति रूपाण्यतिक्रम्य त्वां द्रष्टुं देव के वयम्॥
> इति साक्षात्कृते देवे राज्ञो यद्रातवर्मणः।
> प्रीतिप्रकाशनं तच्च प्रेम इत्यवगम्यताम्॥[२९]

इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि रातवर्मा दंडी के आश्रय रहे हों। किंतु यह रातवर्मा कौन था, इतिहास से इसका पता नहीं चलता। अतः यह कोई मांडलिक या अधीनस्थ राजा रहा होगा। यहाँ दो पाठ है —रातवर्मा, राजवर्मा। प्रभा टीकाकार ने रातवर्मा पाठ को स्वीकार किया है। किसी के मत से यह उल्लेख पल्लवनरेश नरसिंह वर्मा द्वितीय (६६०–७१५ ई०) के लिये है, जिसने राजवर्मा का विरुद धारण किया था। किंतु यह केवल अटकल है इसकी संगति न समय के विचार से संभव है न नाम के विचार से।

ऐसी स्थिति मे रातवर्मा के उल्लेख से हमें दंडी के समय निर्धारण में कोई सहायता नहीं मिलती।

२८. वा० वि० मिराशी—हिस्टारिकल डेटा इन दंडिन्स दशकुमारचरित', एनल्स आव भंडारकर ओरियंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट, १९४५, पृ० ३१।
२९. काव्यादर्श, २।२७८-७९।

विज्जका और 'कौमुदीमहोत्सव' नाटक

वस्तुतः 'काव्यादर्श' के लेखक दंडी है, इसकी पहली सूचना हमे विज्जका की इस उक्ति से ही मिलती है जिसमे उसने 'काव्यादर्श' की प्रथम कारिका 'सरस्वतीवदना' को लेकर दंडी को उपालंभ दिया है—

> नीलोत्पलदलश्यामां विज्जकां मामजानता।
> वृथैव दण्डिना प्रोक्तं सर्वशुक्ला सरस्वती ॥[१०]

इस विज्जका का कई नामों मे उल्लेख होता है—विज्जका[११] विजयाका,[१२] विजया।[१३] सूक्तिसंग्रहों मे इसके पद्य मिलते हैं। राजशेखर ने इसे कालिदास के अनंतर वैदर्भी की श्रेष्ठ कवयित्री माना है। संस्कृत कवयित्रियों मे सबसे अधिक ख्याति इस विज्जका की है। इसी लिये 'कौमुदी महोत्सव' नाटक की स्त्री लेखिका को, जिसके नाम के अक्षरों में केवल अंतिम 'कथा' को छोड़कर प्राप्त हस्तलिखित पोथी में शेष अक्षर कीट-भक्षित हो गए हैं, विज्जका समझा जाता है।

विज्जका ही इस नाटक की रचयित्री है, इसके संबंध में अधिक तथ्य तब प्रकाश मे आते हैं जब हम 'कौमुदी महोत्सव' के वर्ण्य विषय, इतिहास की घटना, का अध्ययन करते हैं। यह तो बहुत निश्चित है कि यह नाटक समकाल की बीती घटनाओं को ही लेकर लिखा गया है जैसा कि उसके इन अंशों को लेकर लिखा गया है और जैसा कि उसके इन अंशों से सकेत मिलता है—'यत्तदस्यैव राज्ञः समतीतं चरितमधिकृत्य', (अंक १), 'केण कारणेण विरसा पकिदिए चंडसेण इदअस्स', तेनैव शीलायराधेन। × × तदो तदो काई 'एरिसवंणरस से राअसिरी? × × तत

१०. शार्ङ्गधर पद्धति, १८०; सूक्तिमुक्तावली. ४।९६।

११. सूक्तिमुक्तावली, ४।९६।

१२. वही, ४।९३—
सरस्वतीव कर्णाटी विजयाङ्का जयत्यसौ।
या वैदर्भगिरां वासः कालिदासादनन्तरम् ॥—राजशेखर।

१३. जयति प्रथमं विजया जयन्तिदेवाः स्वयं महादेवः।
श्रीमन्तौ भगवन्तावनन्त नारायणौ जयतः॥—कौमुदीमहोत्सव, ४।११।

१४. सूक्तिमुक्तावली, ४।९३।

१५. भवतु, यत्तदस्यैव राज्ञः समतीतं चरितमधिकृत्य (······) कया निबद्धं नाटकम्।—कौमुदीमहोत्सव, अंक १, प्रस्तावना।

संप्रवृत्ते संग्रामे वधपात्रमन्येनं **पुत्रीकृतत्वादपहस्तयित्वा** लिच्छविकुलमन्तः **क्षपितवान्** देवः' (**अंक ४**)। '**पुनरपि यदृच्छयागतैस्तापसैर्नीतास्तपोवनमिति पर्यवसिता कथा**' (**अंक ४**)। इन **उद्धरणों** मे काले अक्षरों में मुद्रित पद वक्ता की आँखों के सामने घटित घटना का संकेत देते हैं। नाटक की वर्ण्य घटनाओं की पृष्ठभूमि में डा० *काशीप्रसाद जायसवाल के अनुसार यह नाटक ३४० ई० मे लिखा गया।*[३६]

डा० जायसवाल ने इस नाटक की चर्चा गुप्त सम्राट् समुद्रगुप्त और उसके पिता चंद्रगुप्त के इतिहास के प्रसंगों मे सर्वथा संशयरहित मान्यताओं के साथ की है। उस चर्चा के मुख्य भाव ये हैं—'कौमुदीमहोत्सव' में वर्णित कल्याणवर्मा के पाटलिपुत्र में राज्याभिषेक की घटना नाटक की रचयित्री के सामने घटित हुई है और इस कार्य मे स्वयं उसने भी हाथ बँटाया है। कल्याणवर्मा का पिता सुदरवर्मा वर्णाश्रम धर्म का पालक था, जिसका समुद्रगुप्त के पिता चंद्रगुप्त ने लिच्छवियों की सहायता से संग्राम में जीतकर मगध का राज्य ३२० में हस्तगत कर लिया। 'कौमुदीमहोत्सव' का चंडसेन चंद्रगुप्त ही है। उस समय मध्य और दक्षिण भारत मे वाकाटक सम्राट् प्रवरसेन प्रथम का शासन था जो ब्राह्मणधर्म का समर्थक था। चंद्रगुप्त की जाति कारस्कर थी, धर्मशास्त्र के अनुसार जिनके यहाँ ब्राह्मणों का जाना तक निषिद्ध था। चंद्रगुप्त ने मगधराज्य को जीत लिया और सुंदरवर्मा उसमें मारा गया। तब सुदरवर्मा के एक मात्र शिशु को उसके रक्षक किसी प्रकार बचाकर किष्किंधा (पंपासर) ले गए और वहाँ उसका बीस वर्ष तक पालन पोषण किया गया। कल्याणवर्मा के वयस्क होने के साथ उसके हितैषी मंत्रियों ने उसका पुनः मगधराज्य पर अभिषेक करने की बात सोची। प्रजा चंद्रगुप्त को नहीं चाहती थी, उसे *अपने राजकुमार के प्रति स्नेह था। सन् ३४० म चंद्रगुप्त जब विद्रोही शबरों का* दमन करने के लिये अमरकंटक की ओर गया था, कल्याणवर्मा के सहायकों ने प्रजा के सहयोग से पाटलिपुत्र के सुगांगप्रासाद मे उसका राज्याभिषेक कर दिया। सभवतः इस कार्य मे वाकाटक सम्राट् प्रवरसेन का भी हाथ था और मगधराज्य के अधिकार से चंद्रगुप्त च्युत हो गया। कुछ दिनों के बाद उसकी मृत्यु हो गई। राज्याभिषेक के साथ कल्याणवर्मा का विवाह मथुरा के राजा कीर्तिषेण की पुत्री के साथ हुआ। सन् ३४४ ई० मे प्रवरसेन की मृत्यु हो गई, तब चंद्रगुप्त के होनहार उत्तराधिकारी समुद्रगुप्त को पुनः मगध पर अधिकार करने और पूर्ण रूप से स्वतंत्र होने का अवसर मिल गया। उसने मगध को विजय करने के लिये सेना भेज दी और स्वयं कौशांबी मे उन राजाओं के साथ युद्ध किया जो कल्याणवर्मा की सहायता के

३६. अंधकारयुगीन भारत, पृ० २५६।

लिये जा रहे थे (गणपति नाग, नागसेन, अच्युतनंदी, बलवर्मा) और वे सभी युद्ध में मारे गए। मगध का कल्याणवर्मा (जिसे समुद्रगुप्त के प्रयागस्तंभ लेख में कोतवंश का राजा कहा गया है, उसके नामवाला अंश अभिलेख में नष्ट हो गया है) खेल ही खेल में पकड़ लिया गया। और इस प्रकार समुद्रगुप्त ने अपने पिता के राज्य को पुनः प्राप्त कर लिया।[३७]

डा० जायसवाल ने 'कौमुदीमहोत्सव' के आधार पर जिस इतिहास की खोज की है उसमें संशय का स्थान नहीं है। यह नाटक ३४० ई० में ही लिखा गया। किंतु कुछ पाश्चात्य और पौरस्त्य विद्वानों ने, जिसमें डा० विंटरनित्ज भी हैं, इस नाटक को बहुत बाद की रचना माना है। पं० क्षेत्रेशचंद्र चट्टोपाध्याय ने डा० विंटरनित्ज के समर्थन में 'दि डेट आफ दि कौमुदी महोत्सव'[३८] नाम से एक लंबा लेख लिखा है और इस नाटक को आठवीं शती ई० से पूर्व की रचना नहीं माना है। वे डा० काशीप्रसाद जायसवाल के इस नाटक के आधार पर किए गए ऐतिहासिक उन्मीलनों को भी असत्य ठहराते हैं। किंतु ऐसा प्रतीत होता है कि श्री चट्टोपाध्याय जी पूर्वाग्रह से युक्त इस विवेचन में प्रवृत्त हुए हैं। जैसे, उनका एक विशेष आग्रह यह है कि 'कौमुदी महोत्सव' का प्रथम मंगल श्लोक[३९] जो शिव की वंदना में कहा गया है, उसमें प्रयुक्त—'**श्रीमद्वैयाघ्रचर्मास्तररचिततले स्थण्डिले संनिषण्णः**' और '**ब्रह्मव्याख्याननिष्ठः**'— पद आदि शंकराचार्य की ओर लक्ष्य करते हैं और आदि शंकराचार्य का जन्म ७८८ ई० में माना जाता है। अतः यह नाटक ८वीं शती ई० के बाद लिखा गया। पर चट्टोपाध्याय जी की उक्त संभावना संदिग्ध है क्योंकि यदि 'ब्रह्मव्याख्यान निष्ठः' से शंकराचार्य की ओर लक्ष्य समझा

३७. वही, पृ० २०७, २४८–२४६, २५६–२५७, २८१–२६२।
पुनः द्रष्टव्य—दर्पदैर्ग्राह्यतैव कोतकुलजं पुष्पाह्वये क्रीडता। सूर्यैर्नित्य··· ···
रुद्रदेव–मातिल–नागदत्त–चन्द्रवर्म–गणपतिनाग–नागसेनाच्युत–नन्दिबलवर्मा
द्यनेकार्य्यावर्त राज–प्रसभोद्धरणोद्वृत्त प्रभावमहतः।—हिस्टारिकल एंड
लिटरेरी इंस्क्रिप्शंस (समुद्रगुप्त का अभिलेख) पृ० ७३–७८।

३८. इंडियन हिस्टारिकल कार्टर्ली, खंड १४ (सन् १६३८), पृ० ५८२-६०६।

३९. श्रीमद्वैयाघ्रचर्मास्तररचित तले स्थण्डिले संनिषण्णः
कृत्वा पर्यङ्कबन्धं फणमणिकिरणधारिणा तक्षकेण।
नानारत्नप्रबन्धभेत्रीं श्रियमिवविकिरन् दन्तकान्तिच्छलेन
ब्रह्मव्याख्यानजिष्ठस्तव भवतु तमःकृत्तये कृत्तिवासः।
—कौमुदी महोत्सव, १।१।

जाता है तो **वेदान्तेषु यमाहुरेकपुरुषं व्याप्यस्थितं रोदसी**[४०], कालिदास के इस मंगलश्लोक में **वेदान्तेषु** पद का प्रयोग भी वैसी भ्रांति पैदा कर सकता है। जैसे शंकराचार्य के लिये 'ब्रह्मव्याख्यान' करने की कल्पना की जा सकती है, वैसे ही वह भगवान् शंकर के लिये भी संभव है। बृहत्कथा की अद्भुत विद्याधर कथाएँ शिव के मुँह से ही निःसृत हुई हैं। 'वेदांत' और 'ब्रह्म की व्याख्या' उपनिषद्काल से ही लोकप्रसिद्ध विषय रहे हैं। पं० चट्टोपाध्याय जी नाटक मे वर्णित घटनाओं को लेखिका के समक्ष घटित नहीं मानते। इस संबंध मे पीछे उल्लेख किया जा चुका है कि नाटक के पात्रों के संवादों मे वर्णित घटनाएँ नाटकीय भूमिका मे नहीं, ऐतिहासिक भूमिका में आती है। नाटक के आरंभ मे ही सूत्रधार बहुत स्पष्ट शब्दों में कहता है—'जो इस राजा के ही बीते हुए चरित को लेकर (··· ···) द्वारा रचित नाटक को,।'[४१] वह राजा कल्याणवर्मा है, जिसका राज्याभिषेक और विवाह इस नाटक मे वर्णित है और चौथे अंक मे उसके बाल जीवन की विपत्तियों की भी चर्चा आगई है।

पं० चट्टोपाध्याय जी का यह भी कहना है कि यह नाटक पांचाली रीति की रचना है पर हम उसमे दंडी के 'काव्यादर्श' में निरूपित वैदर्भ मार्ग के ही लक्षण पाते हैं और यतः यह नाटक पाटलिपुत्र के लिये लिखा गया अतः लेखिका ने इसकी प्रस्तावना में ('काव्यादर्श' मे लक्षित) गौड संमत अनुप्रासयुक्त माधुर्य गुण के एक उत्तम श्लोक का निबंधन कर दिया है।[४२]

नाटक के चौथे अंक में जब कल्याणवर्मा पाटलिपुत्र में प्रवेश करता है, उसका स्वामिभक्त मंत्री मंत्रगुप्त प्रसन्नता मे 'विजया' देवी की भी जयकार करता है। यह 'विजया' कोई देवता नहीं है, न नाटक मे इसके पूर्व और बाद मे कहीं इसका उल्लेख हुआ है। यह नाटक की कर्त्री विजया (विज्जका) है जो पंचासर - कर्णाटक प्रदेश से आकर कल्याण वर्मा के साथ पाटलिपुत्र मे प्रवेश कर रही है और कल्याण वर्मा का राज्याभिषेक कराने मे जिसका हाथ रहा है। उसका जो स्वागत पाटलिपुत्र की जनता ने किया होगा उसी की एक झलक नाटक के इस श्लोक मे उसने चित्रित कर दी है—

४०. **विक्रमोर्वशीय, १।१।**

४१. **भवतु, यत्तदस्यैव राज्ञः समतीत चरितमधिकृत्य (···) कया निबद्ध नाटकम् ।—कौमुदीमहोत्सव, प्रस्तावना।**

४२. **कृष्णसारां कटाक्षेण कृशीवलकिशोरिका ।**
करोत्येषा कराग्रेण कर्णे कलममंजरीम् ॥ —कौमुदीमहोत्सव १।१।

जयति प्रथमं विजया जयन्ति देवः स्वयं महादेवः।
श्रीमन्तौ भगवन्तावनन्तनारायणो जयतः ॥[43]

'कौमुदीमहोत्सव' नाटक की लेखिका विजका ही है और इसकी रचना ३४० ई० में समुद्रगुप्त के अभ्युदय के पूर्व हुई।

विज्जका दंडी की समकालिकी है। दंडी की सरस्वती वंदना को लेकर उसने जो उपालंभ दिया है उससे यह सूचित होता है कि दोनों एक दूसरे से परिचित थे। वाकाटक सम्राट प्रवरसेन प्रथम के किन्हीं अधीनस्थ राजाओं के दोनों आश्रित थे और यह संभव है कि दंडी के आश्रय रातवर्मा रहे हों। कल्याणवर्मा के अभ्युदय के लिये विज्जका ने जो प्रयास किया उसमें दंडी का भी सहयोग हो सकता है। 'कौमुदी-महोत्सव' में कल्याणवर्मा के अभ्युदय के लिये जैसी प्रसन्नता व्यक्त की गई है—

प्रह्लानां नयनमहोत्सवः प्रजानां।
सम्प्राप्तो मगधकुलाङ्कुरः कुमारः ॥[44]
× × × ×
प्रकटितवर्णाश्रमपथमुन्मूलितचण्डसेनराजकुलम्।[45]

अर्थात् अनुरागी प्रजा की आँखों के उत्सव मगध राजकुल के अंकुर राजकुमार आ गए। × × जिसने वर्णाश्रम धर्म का मार्ग पुनः प्रकट किया और चंडसेन के राजकुल का उन्मूलन किया (उस राजकुमार कल्याण वर्मा को)। दंडी का यह श्लोक भी उसी प्रसन्नता को लेकर लिखा जान पड़ता है—

एष राजा यदा लक्ष्मीं प्राप्तवान् ब्राह्मणप्रियः।
तदा प्रभृति धर्मस्य लोकेस्मिन्नुत्सवोऽभवत् ॥[46]

अर्थात् ब्राह्मणप्रिय इस राजा ने जब से राज्यलक्ष्मी प्राप्त की, तब से प्रजा के बीच धर्म (वर्णाश्रम धर्म) के उत्सव आरंभ हो गए। अतः इस प्रकार दंडी तथा विज्जका एक काल के ही निश्चित होते हैं।

'सेतुबंध' और प्रवरसेन

'सेतुबंध' की सूक्तियों की दंडी ने बड़ी प्रशंसा की है। 'सेतुबंध' महाराष्ट्री प्राकृत का श्रेष्ठ महाकाव्य है। इसका रचयिता विद्वज्जन कालिदास को मानते हैं

४३. कौमुदीमहोत्सव, ४।१६।
४४. वही, ४।१८।
४५. वही, ५।१।
४६. काव्यादर्श, १।५३।

जिसने वाकाटक सम्राट् द्वितीय प्रवरसेन के लिये इसको रचा था। द्वितीय प्रवरसेन चंद्रगुप्त विक्रमादित्य की पुत्री प्रभावती गुप्ता का पुत्र था। प्रभावती गुप्ता का विवाह वाकाटक नरेश रुद्रसेन द्वितीय से हुआ था। विद्वानों की यह भी कल्पना है कि चंद्रगुप्त विक्रमादित्य ने कालिदास को प्रवरसेन की शिक्षा दीक्षा के लिये भेजा था। यह समस्त संभावना इस पर आधारित है कि कालिदास चंद्रगुप्त विक्रमादित्य के सभा कवि थे।

किंतु दूसरा पक्ष भी है। वाकाटक सम्राट् प्रवरसेन अत्यंत प्रतापी शासक हुआ, उसने ६० वर्ष (२८४–३४४ ई०) तक राज्य किया। उसके द्वारा संपन्न ४ अश्वमेध यज्ञों की सूचना है।[४७] उसने सिंध-शकस्थान को भी अपनी सेनाएँ भेजी थीं।[४८] वाकाटक नरेश जाति से ब्राह्मण थे और उनका गोत्र विष्णुवृद्ध था। 'सेतुबंध' का आरंभ विष्णु की वंदना से होता है, पुनः वाकाटकों के इष्टदेवता शिव की स्तुति की गई है। विष्णु और शिव की इस एकता मे गोत्रदेवता तथा इष्टदेवता की समान मान्यता कारण थी। आगे काव्य मे जितने विस्तार से राम की विजयगाथा गाई गई है वह सब प्रकारांतर से सम्राट् प्रवरसेन की विजयों और विक्रमों का ही गुणगान है। वायुपुराण में भी प्रवरसेन की चर्चा 'प्रवीर' नाम से की गई है। इसलिये सेतुबंध की रचना ३४० ई० के पहले वाकाटक सम्राट् प्रवरसेन ने या उसके नाम पर किसी सभाकवि ने की। जैसे कालिदास के रघुवंश में रघु की दिग्विजय का गान किसी सम्राट् के विजयगान का प्रकारातर है वैसे ही सेतुबंध की प्रबंधकल्पना मे भी संग्राम तथा विजय का निबंधन किसी यशस्वी सम्राट् के विक्रम के इतिहास की आतरिक कहानी है। वह प्रवरसेन द्वितीय के लिये सभव नहीं हो सकती जो गुप्त सम्राट् की कृपा का आश्रित था। प्रवरसेन प्रथम ही उस काव्य-कल्पना का लक्ष्य है।

३४४ ई० में सम्राट् प्रवरसेन प्रथम की मृत्यु के बाद समुद्रगुप्त का अभ्युदय हुआ। ३४० ई० मे मगध में कल्याणवर्मा का अभिषेक हुआ था। जैसा कि डा० काशीप्रसाद जायसवाल ने लिखा है, गुप्त नरेश कारस्कर जाति के थे[४९] अतः पहले ब्राह्मणों की दृष्टि में उसके प्रति आदर नहीं था। समुद्रगुप्त की विजय, जो ३४४ ई० मे हुई, के बाद भी उसे नीचा दिखाने के प्रयत्न राजाओं द्वारा हुए होंगे।

४७. अंधकारयुगीन भारत, पृ० १४३।
४८. भारतीय इतिहास का उन्मीलन, पृ० २०६।
४९. अंधकारयुगीन भारत, पृ० २४६, २५३; कौमुदीमहोत्सव, ३।६।

'काव्यादर्श' के व्यतिरेक अलंकार के उदाहरण में तीन श्लोक ऐसे आए हैं जिसमें वर्ण्य राजा की सागर से उत्कृष्टता दिखाई गई है। एक श्लोक में स्पष्ट ही समुद्र नाम आया है। यह बहुत संभव है कि दंडी ने अपने आश्रय राजा की यह प्रशंसा समुद्रगुप्त की तुलना में की हो—

> धैर्यलावण्यगाम्भीर्यप्रमुखैस्त्वमुदन्वतः ।
> गुणैस्तुल्योऽसि भेदस्तु व पैवेदृशेन ते ॥
> अभिन्नवेलौ गम्भीरावम्बुराशिर्भवानपि ।
> असावञ्जनसंकाशस्त्वं तु चामीकरद्युतिः ॥
> त्वं समुद्रश्च दुर्वारौ महासत्त्वौ सतेजसौ ।
> अयं तु युवयोर्भेदः स जडात्मा पटुर्भवान् ॥[५०]

अतः यह निश्चित होता है कि दंडी ने अपना 'काव्यादर्श' समुद्रगुप्त के इसी अभ्युदय के आसपास लिखा।

विज्जका की भी एक राजस्तुति प्राप्त होती है, जिसमें उसने अपने वंदनीय राजा को चंद्र-सूर्य-वंशियों में अधिक प्रतापी माना है और एकमात्र पृथ्वी का भर्तार कहा है, अंग से लेकर कुंतल-चोल तक जिसका राज्य है।[५१] यह स्तुति सम्राट् प्रवरसेन प्रथम पर घटित होती है। इससे भी प्रवरसेन प्रथम के समकालिक विज्जका और दंडी की स्थिति का आकलन दृढ़ होता है।

दंडी का वाराह वर्णन

उक्त विवेचनों के साथ एक और आधार दंडी के कालनिर्णय में सहायक होता है। वह है दंडी का वराहवर्णन। अर्थव्यक्ति गुण के उदाहरण में उन्होंने लिखा है—

> अर्थव्यक्तिरनेयत्वमर्थस्य हरिणोद्धृता ।
> भूः खुरक्षुण्णनागासृग्लोहितादुदधेरिति ॥[५२]

५०. काव्यादर्श २।१८१, १८३, १८५।

५१. भूपालाः शशिभास्करान्वयभुवः के नाम नासादिता
भर्तारं पुनरेकमेव हि भुवस्त्वां देवमन्यामहे।
येनाङ्गं परिमृज्य कुन्तलमथाकृष्य व्युदस्यायतम्
चोलं प्राप्य च मध्यदेशमधुना काञ्च्यां करः पातितः ॥
—सुभाषितावलि, २५१५; सदुक्तिकर्णामृत, १४४१।

५२. काव्यादर्श १।७३।

अर्थात् 'वाराहविष्णु ने अपने खुर के आघात से आहत साँपो के रक्त से लोहित पृथिवी को समुद्र से निकाला'। आगे वे कहते हैं कि यदि यहाँ पर केवल इतना कहा जाय—

महो महावराहेण लोहितादुद्धृतोदधेः।[५३]

अर्थात् 'महावराह विष्णु द्वारा लोहित पृथिवी समुद्र से निकाली गई' तब—

नेयत्वमुरगासृजः[५४]

'साँपों के रक्त' का अध्याहार वहाँ करना पड़ेगा। वराह के पृथ्वी-उद्धार-वर्णन मे इतने वस्तुविन्यास के प्रति आग्रह का जो संकेत दंडी ने दिया है उसका अर्थ है कि वराह की ऐसी वस्तुविशिष्ट मूर्ति की कल्पना और निर्माण उनके समक्ष था, जो पीछे उपेक्षित हो गया। उदयगिरि (भिलसा) मे वराह की जो मूर्ति (४०० ई०) मिली है, जिसका निर्माण चंद्रगुप्त विक्रमादित्य ने करवाया था,[५५] उसमे नीचे केवल शेषनाग अंकित किए गए हैं। परवर्ती काल में भी वराह का जो वर्णन आता है वह इतना वस्तुविशिष्ट नहीं है जितना दंडी का उक्त वर्णन।

इन समस्त विवेचनों से अत मे हम इस निश्चय पर पहुँचते हैं कि दंडी भामह के पूर्ववर्ती हैं। उनकी एकमात्र रचना 'काव्यादर्श' ही प्राप्त है। वे विज्जका के समकालीन हैं। विज्जका 'कौमुदीमहोत्सव' नाटक की लेखिका है। प्रवरसेन प्रथम ने 'सेतुबंध' की रचना की या कराई होगी। दंडी के समक्ष वाराह की मूर्तियाँ जैसी बनती थीं, उनमे परिष्कार करके ही उदयगिरि (भिलसा) की वाराह मूर्ति का निर्माण (४०० ई० मे) हुआ। अतः प्रवरसेन और विज्जका के समय को देखते हुए दंडी के 'काव्यादर्श' की रचना का काल ३४० ई० से ३५० ई० के बीच होना चाहिए। यह समय संस्कृत काव्यशास्त्र के विकास संबंधी पर्यालोचन मे भी दंडी के मार्ग-गुण-विवेचन को देखते हुए ठीक जँचता है। यतः दंडी और विज्जका दोनों समुद्रगुप्त के विरोध मे मगध के राजा कल्याणवर्मा के समर्थक थे, ये दोनों जिस राज्य के थे और जिस राजा के आश्रित थे, उसका भी पराभव समुद्रगुप्त के द्वारा हो गया होगा और प्रवरसेन प्रथम की मृत्यु के बाद वाकाटक नरेश निर्बल हो गए, अतः इन दोनों के लिखे ग्रंथों को समुद्रगुप्त की प्रशस्ति के सामने राजसभाओं में आदर न प्राप्त हुआ और ये शताब्दियों तक विद्वानों के पास उपेक्षित पड़े रहे।

*

५३. काव्यादर्श १।७४।
५४. वही, १।७४।
५५. भारतीय इतिहास उन्मीलन, पृ० २१६।

हिंदी अंगरेजी कोशकार्य और पारिभाषिक शब्दनिर्माण

[सन् १७९०-१९१० ई०]

गोपाल शर्मा

भारत में कोशकार्य और पारिभाषिक शब्दावली निर्माण का ऐतिहासिक सर्वेक्षण करने से पूर्व इस विषय की सीमाओं का उल्लेख कर देना आवश्यक है। १९वीं शताब्दी के आरंभ में ही अंगरेजी, हिंदी, फारसी, उर्दू, संस्कृत शब्दावली के आधार पर द्विभाषी, त्रिभाषी, बहुभाषी कोश प्रकाशित होते रहे हैं। अंगरेज विद्वानों और अफसरों ने इस विषय में विपुल परिमाण में काम किया है। आरंभिक कार्य सामान्य संकलन के रूप में हैं जिनमें कि समानार्थी अंगरेजी, उर्दू, हिंदी, संस्कृत शब्दों को एक साथ रखकर यथावश्यक उनके मूल और अन्य अन्य अर्थों की व्याख्याएँ की गई हैं। सामग्री उपलब्ध प्राचीन ग्रंथों, प्रस्तुत प्रकाशनों, जनसंपर्क और पंडितों और मौलवियों की सहायता से संकलित की गई है। क्षेत्रीय सरकारी मुलाजिमों का भी इसमें बहुत सहयोग रहा है। जिन कोशों का आगे उल्लेख किया जा रहा है वे कलकत्ता और दिल्ली के पुस्तकालयों में या तो उपलब्ध हैं या उनका उल्लेख उपलब्ध कोशों की भूमिका में आधारित सामग्री के रूप में हुआ है। सामान्य द्विभाषी त्रिभाषी कोशों का यहाँ मात्र परिचय दिया जा रहा है। इन्हें इस सर्वेक्षण में इसलिये समिलित किया गया है कि उनमें परिभाषा संकलन और शब्दार्थ निश्चय बीजरूप में विद्यमान हैं। ये सामान्यतया दिशादर्शक और प्रचलित शब्दावली के आदि पुरस्कर्ता हैं। जिस कोश में विशेष पारिभाषिक शब्दावली का संकलन मिलता है उसे 'संकलन' शीर्षक के अंतर्गत लेकर विशेष टीका के साथ प्रस्तुत किया गया है। उसके पश्चात् ही मूल पारिभाषिक शब्द-रचना-संबंधी कोशों का वर्णन 'पर्याय रचना' शीर्षक के अंतर्गत सविस्तार किया गया है। यहाँ ज्ञान विज्ञान के लिये सुनिश्चित रूप से बड़े पैमाने पर किए गए कार्य को प्रधानता दी गई है। इसके अतिरिक्त जिस प्रादेशिक संस्था ने संस्कृत के आधार पर हिंदी में खप सकनेवाले शब्दों का निर्माण किया है, चाहे वह काम बंगला या गुजराती भाषा के लिये ही क्यों न हो, उसे यहाँ संमिलित कर लिया गया है। आनुषंगिक रूप से शब्दावलीनिर्माण के प्रेरक और सहायक यत्नों का यथावश्यक वर्णन किया गया है। इन सारे कार्यों की भूमिका में व्यक्त विचार भी महत्वपूर्ण है, जिनसे यह ज्ञात होता है कि शब्दावलीनिर्माण के

सिद्धांतों का तत्संबंधी धारणाओं का कैसे विकास हुआ और आज जिन तरीकों को मान्यता दी गई है उनकी पूर्वपीठिका क्या है।

अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से आरंभ करते हुए हमें सन् १७६० में मद्रास में मुद्रित और इंडिया हाउस लाइब्रेरी में उपलब्ध एक कोश का नामोल्लेख मिलता है। इसका नाम 'डिक्शनरी आव् इंगलिश ऐंड हिंदुस्तानी' है। कोश के संपादक डाक्टर हेरिस हैं।[1] जान शेक्सपियर ने इसका अपने व्याकरण की भूमिका में उल्लेख किया है। जान गिलक्रिस्ट ने अपना अंगरेजी हिंदुस्तानी कोश सन् १७८६ में कलकत्ते से प्रकाशित किया। इसका द्वितीय संस्करण एडिनबरा से सन् १८२० में निकाला गया। डा० गिलक्रिस्ट के काम से फोर्बस ने अपने कोशकार्य में पर्याप्त सहायता ली। फोर्ब्स ने भूमिका में लिखा है कि गिलक्रिस्ट के दिनों में हिंदुस्तानी बन नहीं पाई थी, इसलिये अधिकाश शब्दों में ह्रस्व के स्थान पर दीर्घ (ऊ) का प्रयोग तथा इसके विपरीत जहाँ (ऊ) चाहिए वहाँ (उ) का प्रयोग किया है। इसकी उपेक्षा की जाए तो गिलक्रिस्ट के कार्य और क्रम की सर्वत्र प्रशंसा हुई और उन्हें उच्चकोटि का प्राच्यविद् माना गया। सन् १८३४ में जान शेक्सपियर ने हिंदुस्तानी भाषा का व्याकरण या मुंतखबात-ए-हिंदी नामक पुस्तक लंदन से प्रकाशित की। इसे ईस्ट इंडिया कंपनी के मैनेजरों को समर्पित किया गया। प्रकाशन में २२०७ पृष्ठ है। इसकी भूमिका में कुछ और कोशों का उल्लेख है। एक का निर्देश ऊपर किया जा चुका है। दूसरा कोश हिंदुस्तानी और इंग्लिश का है जिसे अपने काम के लिये कैप्टेन जोजफ टेलर ने संकलित किया था और जिसे फोर्ट विलियम कालेज के विद्वान मारविंयों (नैटिव्स) की सहायता से डब्ल्यू० हंटर एम० डी० ने संशोधित कर प्रेस के लिए तैयार किया था। यह कोश सन् १८०८ में कलकत्ता से प्रकाशित किया गया था।

टेलर और हंटर के कोश में हिंदी के शब्दों के सामने उनके संस्कृत आधार भी दिए गए हैं जैसा कि नीचे दिए गए कुछ उदाहरणों स्पष्ट होगा —

Paharna	(स्फुरण)	to fly (as a flag in the air) to flutter.

1. द्रष्टव्य—ए ग्रामर आव् हिंदुस्तानी लैंग्वेज; मुंतखबात-ए हिंदी बाई जौन शेक्सपियर पब्लिश्ड आन १८ दिसंबर, १८३४, इन लंदन : प्रिफेस; तथा ए डिक्शनरी आव् हिंदुस्तानी इंग्लिश (ऐंड रिवर्स) बाई डी० फार्बेस, प्रिफेस, पृ० ४।

Takshal	(टंकशाला)	a mint
Rokre	(रोक)	Ready money, cash
Kalar	(कलाट)	A distiller, seller of spiritual liquers. A tavern keeper, innkeeper.
Nivedan	(निवेदन)	An address, a petition, represeentation.

इस कोश मे संस्कृत के शब्द देवनागरी लिपि मे दिए गए है। शेक्सपियर के ग्रंथ का मूल आधार यही कार्य था। सन् १८७० मे शेक्सपियर द्वारा संशोधित संस्करण लंदन से प्रकाशित किया गया। इसमें भारत की अनेक तत्कालीन भाषाओं के शब्द है और अनेक पाडुलिपियों तथा प्रकाशित ग्रंथों से आधारभूत सामग्री एकत्रित की गई है। इस कोश मे कई शब्द और अर्थ बड़े असाधारण प्रतीत होते है, जैसे :

अहमेष : Vanity, egotiam, arrogance, pride

चिह्न : to advertise.

सुलक्षण : 1. clever, 2. of good marks of features—beautiful.

दर्शन : interview.

रेवरेंड ए० टी० एडम ने भारतीय पाठशालाओं मे उपयोग के लिये सन् १८३८ मे 'इंग्लिश हिंदी डिक्शनरी' प्रकाशित की थी। उसी उद्देश्य से 'कलकत्ता स्कूल बुक ऐंड वर्नाक्यूलर लिटरेचर सोसायटी' की ओर से सन् १८७० मे इंग्लिश-हिंदी डिक्शनरी' प्रकाशित की गई थी। यद्यपि यह कोश सामान्य वर्ग का है फिर भी जहाँ तहाँ काफी मात्रा मे पारिभाषिक शब्द संमिलित कर लिए गए हैं, जैसे—

Abjure	शपथ खाना, शपथपूर्वक, मत त्याग करना, सौगंध करना।
Apprentice	चेला, जो कोई शिल्प-विद्या का व्यापार सीखने के निमित्त बंधेज करता है।
foster-sister	दूध-बहिन
guard	रखवाल, पहरुआ, रक्षा, चौकसी
hireling	ठिकहा, वेतनिक
judgement	विवेचना शक्ति, निर्णय, दंडाज्ञा, दंड, अंतिम विचार।

प्रस्तुत कोश मे २५८ पृष्ठ हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि इस कार्य मे अनुभवी विद्वानों की सहायता ली गई है।

संकलन

शब्दावली-निर्माण मे सहज और शास्त्रीय पद्धति से कार्य करने की पद्धति तो यह है कि क्षेत्रों में जाकर लोगों से मिलकर पहले शब्दसंग्रह किया जाय, साहित्य मे से शब्द छाँटे जायँ, तत्पश्चात् उनका पारिभाषिक दृष्टि से परीक्षण किया जाय। शुरू में अंगरेजों ने यही किया। उन्होंने पंडितों और मौलवियों को सीधे शब्दनिर्माण में नहीं लगाया वरन् प्रचलित शब्दों का संकलन कर उनको अंगरेजी शब्दों और अभिव्यक्तियों के पर्याय के रूप मे बैटाने का यत्न किया। सन् १८११ मे 'सदर बोर्ड' ने 'रेवेन्यू ग्लासरीज' नामक शब्दावली प्रकाशित की थी[२] जिसमे कि माल विभाग की शब्दावली का संकेतन था। बाद में तत्कालीन सरकार ने १४ दिसंबर १८४२ को एक आदेश द्वारा प्रोफेसर एच० एच० विल्सन के निरीक्षण मे भारतीय शब्दावली का संकलन करने का आदेश निकाला और उसके पूरक प्रकाशन के रूप में बंगाल सिविल सर्विस के एच० एम० इलियट ने सन् १८४५ मे भारतीय शब्दावली (दि ग्लासरी आफ इंडियन टर्म्स) नामक एक संग्रह प्रकाशित किया जिसका मुद्रण आगरा के सिकंदरा जार्फन प्रेस मे हुआ। इसमे ४७७ पृष्ठ हैं। शब्दावली कार्य की दृष्टि से एच० एम० इलियट ने, ट्राइब्स (जनजाति), कस्टम्स (रीति रिवाज), दि फिस्कल एंड एग्रीकल्चरल टर्म्स (वित्तीय और कृषि संबंधी शब्दावली) आदि शीर्षकों के अंतर्गत प्रचलित शब्दों का संकलन किया। इनके अतिरिक्त उनकी योजना मे हिंदू पुराणों और ज्योतिष की शब्दावली एकत्रित करना भी शामिल था। इलियट ने सामान्य कोशों में संमिलित शब्दावली को नहीं लिया। अपने शब्दसंग्रह की भूमिका मे उन्होंने लिखा है कि अधिकाश शब्द लोगों से बातचीत कर एकत्रित किए गए हैं और उनका उच्चारण लिखने में गिलक्रिस्ट की पद्धति या माल सर्वे मे प्रयुक्त इसके संशोधित रूप को अपनाया गया है। इस संग्रह की रूपरेखा का नमूना इस प्रकार है—

चलान—Invoice, an announcement of despatch
दाखिता—a receipt, arriving, entering.
दानपत्र—A deed of gift by which land is conveyed to Brahamina.

२. सप्लीमेंट टु द ग्लासरी आव् इंडियन टर्म्स बाई एच० एम० इलियट, प्रिफेस।

गड़ाबटाई—Division of produce without threshing by stacking the sheaves in proportionate share (Rohilkhand)

हराई—The portion of land in a field which is included within one circuit of a plough.

चढ़वी—Raising rent.

चाही—Lands irrigated from wells,

चैन—Cultivated land.

जैसा कि पीछे बताया जा चुका है उस समय इसके अतिरिक्त भी बड़े पैमाने पर काम हुआ था। इन शब्दावली संकलन से हमारे आज के शब्द-निर्माताओं को बड़ी सहायता मिल सकती थी। किंतु संभवतः इसे या ऐसे संग्रहों को अनुपयुक्त मानकर या जानकारी के अभाव मे उपेक्षित ही रखा गया है। अधिक व्यवस्थित ढंग से बनाया हुआ डंकन फोर्ब्स का कोश है। इसका नाम 'ए डिक्शनरी आफ हिंदुस्तानी ऐंड इंग्लिश' है। इसके पीछे ही इसका अंगरेजी हिंदुस्तानी रूप भी दिया गया है। यह कोश सन् १८४८ मे ईस्ट इंडिया कंपनी के पुस्तक विक्रेता विलियम एच० एलन ऐंड कंपनी ने लंदन से प्रकाशित किया था। प्रोफेसर फोर्ब्स के कार्य का भारत मे बहुत संमान हुआ। उसके नाम से गुजरात में फोर्ब्स साहित्य की स्थापना भी हुई। अपने कोशों की भूमिका मे आधार और संदर्भ सामग्री के रूप मे उन्होंने गिलक्रिस्ट, हटर इलियट और डा० एडम के प्रकाशनों का उल्लेख किया है।[1] इसके अतिरिक्त फोर्ब्स ने दक्खिनी सेना की हिंदी और उत्तरी सेना की हिंदी मे व्याकरण संबंधी भेद बताकर यह लिखा है कि दक्खिनी सेना की हिदी मे स्वेच्छापूर्वक अंगरेजी की सेनाशब्दावली का प्रयोग होता है। इसके प्रमाण मे उन्होंने मद्रास के कैप्टेन एडवर्ड टी० काक्स के 'रैजिमेंटल मुंशी' (१८४०) नामक प्रकाशन का उल्लेख किया है।

हिंदी के आकर ग्रंथों मे उन्होंने 'प्रेमसागर' (१८२५) का नाम लिखा है। शुद्ध हिंदी शब्दों के संकलन के विषय मे उन्होंने डा० पी० एस० डी० रोजारियो की कलकत्ते से सन् १८३७ मे प्रकाशित 'डिक्शनरी आफ इंगलिश, बंगाली, हिंदुस्तानी' का निर्देश किया है। फोर्ब्स के कोश से सामाजिक विज्ञानों से संबंधित पारिभाषिक शब्दावली के कुछ हिंदी शब्द नीचे दिए जा रहे हैं—

१. यह सारी सामग्री फोर्ब्स द्वारा संपादित 'डिक्शनरी आफ इंग्लिश ऐंड हिंदुस्तानी' की भूमिका से ली गई है।—लेखक

Contract (to	बंधेज करना, (a debt)–लेना, करना
Continuity	उमेदता, अविच्छेदता
Creditor	साघ, व्यौहारिया, पानी
Learner	सीखन हारा–(तुलना मराठा शिहारा)
Mediate (to)	बीच-बचाव करना, दरमियान पड़ना (तुलना गुजराती—दरमियानगिरी)

सारे कोश में ५८५–३१८ (हिंदी-अंगरेजी । अंगरेजी-हिंदी) पृष्ठ है। इस कोश की भी व्याप्ति पर्याप्त है। तत्कालीन आवश्यकताओं के लिये यह बड़ा उपयोगी सिद्ध हुआ होगा। सारे कोश में हिंदी शब्द रोमन लिपि में दिए गए हैं।

मथुराप्रसाद मिश्र द्वारा संपादित 'ट्राइलिंगुअल डिक्शनरी-बीइंग ए काम्प्रिहेंसिव लेक्सिकन इन इंगलिश, उर्दू ऐंड हिंदी' यद्यपि सामान्य कोश है, परंतु इसकी भूमिका में वर्णित भाषा संबंधी सिद्धांतों को पढ़ने से तत्कालीन शब्दावली संबंधी मतों पर कुछ प्रकाश पड़ता है। इस कोश में पर्याप्त मात्रा में पारिभाषिक शब्द भी संकलित हैं[४] तथा परिमाण में भी यह काफी बड़ा है (१२४६ पृष्ठ)। इसका प्रकाशन लाजरस ऐंड कंपनी, बनारस द्वारा सन् १८६५ में किया गया था। शब्दसंकलन की चर्चा करते हुए संपादक ने व्युत्पत्ति, संस्कृत शब्दावली, सामान्य हिंदी शब्द, हिंदी की हत्या आदि विषयों पर अपना मत प्रकट किया है। अपने विचारों में ये संस्कृत के पुनरुद्धारवादियों के बहुत समीप पहुँच गए हैं। उच्चकोटि के कोशकारों को निर्दिष्ट कर ये कहते हैं—'ये एक शब्द की व्युत्पत्ति उसके ग्रीक, लैटिन या गौथिक रूपों में करते हैं। वे समझते हैं कि अब इससे और दूर जाने की कोई गुंजाइश नहीं रही। परंतु भाषाविज्ञान की ताजी खोजों ने ऐसे विशाल क्षेत्रों का उद्घाटन किया है जहाँ कि ये अभीतक पहुँच नहीं पाए। भाषाओं में सर्वप्रथम भाषा संस्कृत सभी ज्ञात आर्य भाषाओं की बड़ी बहिन सिद्ध की जा चुकी है। अतएव जब तक संस्कृत की उपेक्षा की जायगी तब तक व्युत्पत्ति भी अवश्य मिथ्या ही रहेगी।'[५]

४. प्रिफेस टु ट्राइलिंगुअल डिक्शनरी आव् मथुराप्रसाद मिश्र—'आई हैव अडाप्टेड सम रेंडरिंग्स आव् साइंटिफिक टर्म्स फ्राम द सिनाप्सिस आव् सायंस इन संस्कृत ऐंड इंग्लिश' बाइ द लेट डा० जेम्स बैलंटाइन।'

५. 'ग्रीक ऐंड लैटिन छिन आर द सोर्स लैंग्वेजेज आव् यूरोप आर डेरिवेटस आव् एंश्यंट संस्कृत'... प्रोलेगोमेना बाई प्रो० रघुवीर-डिक्शनरी आव् इंग्लिश-इंडियन टर्म्स आव् ऐडमिनिस्ट्रेशन, पृ० ८।

संस्कृत शब्दों के संबंध मे उन्होने लिखा है—'संस्कृत शब्दों को इस कोश में प्रचुरता से संमिलित किया गया है – कुछ तो जानबूझकर और कुछ आवश्यकता के कारण। जानबूझकर इसलिये कि कोश सामान्य रूप से सबके लिये उपयोगी हो जाए ताकि अन्य प्रेसिडेंसियों के विद्यार्थी भी अगर इसका उपयोग करें तो उन्हे निराशा न हो। आवश्यकता इसलिये कि हिंदी की शब्दावली वैसे पर्याप्त है, स्थूल पदार्थ और कुछ साधारण मानसिक मात्रादि के लिये हिंदी मे शब्द हैं। परंतु व्यस्त मस्तिष्क के अभिजात भावों और सूक्ष्म अनुभूतियों तथा दार्शनिक और वैज्ञानिक तत्वों की अभिव्यक्ति उसकी प्रवृत्ति और क्षमता से परे हैं।' इस कथन को स्पष्टता से समझाते हुए ये आगे लिखते है—'मेरा आशय यह नहीं है कि हिंदी निबंध में संस्कृत शब्दावली का विस्तृत प्रयोग किया जाए। नहीं, सरल से सरल हिंदी शब्दों का प्रयोग किया जाना चाहिए, यदि वे पर्याप्त हों तो, किंतु जब उसके साधन जवाब दे दे, तो विदेशी भाषा की तुलना मे संस्कृत शब्दो को ही स्थान दिया जाना चाहिए।'

यद्यपि इस कोश मे उर्दू फारसी के शब्द भी संमिलित हैं फिर भी मथुराप्रसाद मिश्र हिंदी मे मिश्रण के विरोधी प्रतीत होते है। हिंदी की हत्या का उल्लेख करते हुए उन्होंने कहा है—'अरबी, फारसी, उर्दू, संस्कृत और हिंदी का मिश्रण, सुरुचिवाले व्यक्तियों मे मात्र घृणायुक्त मुस्कान उत्पन्न करता है। परंतु कुछ लोग तो संभवतः हिंदी की हत्या करने में प्रवृत्त है। उनका विचार हैं कि वह सभ्य समाज से बहिष्कृत है इसलिये 'ग्राम्यता' की पर्यायवाचक बन गई है। चूंकि उसमे कोई व्यावहारिक लाभ नहीं है अतएव उसकी उपेक्षा करनी चाहिए। उन्हें यह ध्यान रखना चाहिए कि हिंदी ने कचहरी और सामान्य समुदाय से, परिस्थिति की विषमता के कारण, अपने आपको खींच लिया है। फारसी और उर्दू के हावी हो जाने से यह पस्त हो गई है। हिंदी की तुलना उस समय की अंगरेजी से करनी चाहिए जब कि उसपर नार्मन-विजय हुई थी। विशेषताओं की भाषा अधिकांश समाज और कानून की भाषा बन गई थी।

इस कोश मे समिलित कुछ शब्द और उनके पर्याय (रोमन लिपि मे) इस प्रकार है—

Blockade —मुहासरा, इन्हिसार, नाकेबंदी

Capitalist सरमायादार, मालदार, पूँजीवाला

Cession हवाला, तस्लीम, तफवीज, समर्पण, प्रदान

Civil मुल्की, माली, दीवानी, अंदरूनी, मुलाइम, नर्म, खलीफ, साहिबी, अखलाक, सुलूक, पुर-संबंधी, नगर संबंधी, घरू, घरेता, देशी, मिलापी, शिष्ट, अनुभवी, सुशील, सत्कारी, सभ्य, सुविनीत।

Code आईनों का मजमुआ, धर्मसंहिता, स्मृतिशास्त्र, राजनीति-संग्रह

इस कोश की व्याप्ति विस्तृत है और एक शब्द के विभिन्न प्रसंगों से संबंधित प्रायः सभी अर्थ देने का यत्न किया गया है।

ईस्ट इंडिया हाउस मे सरकारी कर्मचारियों को अपने दफ्तरी काम मे सहायता के लिये प्रो० एन० एच० विल्सन ने सन् १८४२ में एक प्रायोगिक शब्दसंग्रह बनाने का यत्न किया था। यह काम किस सीमा तक किया गया इसका पता नहीं लगता।[६] केंद्रीय सचिवालय ग्रंथागार में उपलब्ध प्रति का शीर्षक है—'ग्लासरी आफ इंडियन टर्म्स फार यूस आफ दि वेरियस डिपार्टमेंट्स आफ दि गवर्नमेंट आफ दि ईस्ट इंडिया कंपनी।' इसके पृष्ठ एक रेखा द्वारा दो भागों मे विभाजित हैं। एक खाने मे शब्द और उनके अर्थ दिए गए हैं और दूसरा खाना शीर्षक देकर खाली छोड़ा गया है। शीर्षक है--सुझावों और अन्य शब्द जोड़ने के लिये। कंपनी के शासक इसे प्रायोगिक मानकर काम चला रहे थे। इस संग्रह को सारे भारत मे विभिन्न लोगों के पास उनके अभिमत के लिये भेजा गया था।[७] इस संग्रह का रूप यह है—

Words		For Suggestions and additions.
Abad –	Abode, residence.	
Bhowlee –	Money payment.	
Bhowley –	The term is applied to land where the produce of the harvest is divided between the govt. and the cultivator.	

६. इस प्रकाशन पर सन् १८८५ लिखा है जो बहुत बाद का समय है। संभवतः यह बाद के संस्करण का समय हो। स्थिति स्पष्ट नहीं है।

७. हाब्सन-जाब्सन नामक युल द्वारा संपादित 'ए ग्लासरी आफ ऐंग्लोइंडियन कालोकियल वर्ड्स ऐंड फ्रेजेज में इसे संदर्भ-सामग्री के रूप में बताया गया है। देखिए, इंट्रोडक्टरी रिमार्क्स : नोट–ए, पृ० २१।

Fatha– The quota which each patider has to contribute to the annual amount of Revenue.

Kotchubbaleh–Instrument for the transfer of land.

Mutseddy– Writer, accountant, a clerk in a public office.

अंगरेजी के कोश कार्य में सबसे अधिक महत्वपूर्ण कार्य एस० डब्ल्यू० फेलेन का है। सन् १८७९ में इनका एक बड़े परिमाण का हिंदुस्तानी अंगरेजी कोश प्रकाशित हुआ था। इस कोश के शब्दचयन की आधारभूत सामग्री हिंदुस्तानी (हिंदी) साहित्य और लोकसाहित्य है। इस दृष्टि से इस कार्य में प्रामाणिकता है। इस कोश का आज भी बहुत मान है। चूंकि यह कोश साहित्यिक कोटि का है और इसके अतिरिक्त भी फैलेन ने अन्य क्षेत्रों की शब्दावली का कार्य किया है अतएव उसका उल्लेख मात्र किया जा रहा है। फैलेन के जिस कार्य को प्रस्तुत सर्वेक्षण की दृष्टि से स्थान दिया गया है, उसका शीर्षक है—'ए रोमनइज्ड इंगलिश-हिंदुस्तानी ला ऐंड कमर्शियल डिक्शनरी आफ वर्ड्स ऐंड फ्रेजेज यूज्ड इन सिविल, क्रिमिनल, रेवेन्यू ऐंड मर्केंटाइल अफेयर्स।' इस संग्रह को दिल्ली के लाला फकीरचंद वैश ने संपादित किया और दोहराया था। यह कोश सन् १८८८ में मेडिकल हाल प्रेस, बनारस से प्रकाशित हुआ था। अन्य कोशों की तरह इसमें भी हिंदी और फारसी के शब्द एक ही सिलसिले में, रोमन लिपि में दिए गए है। उदाहरणार्थ –

Acceptance –स्वीकार, अंगीकार, कबूलियत

Accomplice –शरीक, साथी, संगी, शरीक अवक्त-ए-जुर्म,

Cess हिस्सा-ए-रसीद, बाछ, चंदा, दामासाही, उगाही

Counsul– 1. Chief Magistrate–मजिस्ट्रेट-ए-आला

2. Sadar Magistrate–सदर मजिस्ट्रेट

3. Representative–सफीर, वकील

Paramount Power–राज अधिकार, महाराज,

Retaliation– पलटा, बदला, उलटा, एवज, प्रजा, मुकाफात, पादाश, इंतिकाम

यह संग्रह फैलन के एक इससे भी बड़े संग्रह का संक्षिप्त रूप है। बड़े संग्रह का नाम 'हिंदुस्तानी इंगलिश ला ऐंड कमर्शियल डिक्शनरी' है। इसका भी प्रकाशन ई० जे० लाजरस ऐंड कंपनी, बनारस तथा ट्रूबनर ऐंड कंपनी, लंदन द्वारा सन् १८७६ मे किया गया था। मुद्रण मेडिकल हाल प्रेस, बनारस में हुआ था। यह मूल से उल्टे और परिवर्तित रूप मे तैयार किया गया है। इस शब्दावली के स्रोत सरकारी गज़ट मे प्रकाशित ऐक्टो और रेगुलेशनों के अधिकृत उर्दू अनुवाद है। प्राक्कथन मे संपादक ने लिखा है—

'इस शब्दावली के सकलन का व्यावहारिक प्रयोजन उन व्यक्तियों की सहायता करना है जिन्हे अदालतों से और कानूनी कागजात से काम पड़ता है। इसे देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि हिंदुस्तानी बोलनेवाले इस प्रांत की अदालतो की कानूनी भाषा प्रायः विदेशी अरबी वाक्यांशो से भरी पड़ी है। इस संग्रह मे अधिकाश रूप से जहाँ भी अरबी वाक्यांशों के साथ हिंदी पर्याय दिए गए हैं उसका आशय यह भी दिखाना है कि अरबी से 'अकारण' ही शब्द लिए गए है और वे इसलिए कि अरबी विद्वत्समुदाय की भाषा है और हिंदी भारत के लोगों की ग्राम्य जन-भाषा है। इसके अतिरिक्त अरबी की शब्दावली से एक रहस्यात्मक अस्पष्टता भी कायम रखी जा सकती है जिससे कुछ थोड़े व्यक्तियों को धूर्ततापूर्ण लाभ और अनेकों को अनुचित नुकसान पहुँच रहा है।

इस तरह दीवानी अदालत के 'फोर पेपर्स- अर्थात् प्लेंट, आन्सर, रिप्लाई, और रिमाइंडर का अदालत को प्रामाणिक भाषा मे कागजात-ए-अरबा धुनपाव उपलब्ध होता है मानो कि अरबी शब्द 'अरबा' हिंदी शब्द 'चार' मे अधिक सूक्ष्मता से अर्थ देता हो। यही हाल अधिकांश शब्दों के विषय मे है। प्रचलित हिंदी शब्द धरोहर के लिये अरबी का अमानत, पृष्ठ-बंधक के स्थान मे रहन-बिन-कफालत, हिंदी के झूठ शब्द से बने झूठलाना के स्थान मे अरबी के इबताल का व्यवहार किया जाता है।'

फैलन ने इस तरह संबंधवाचक और अन्य शब्दों को लेकर यहाँ तक कि विभक्तियों के उदाहरण देते हुए यह बताया है कि उनके स्थान मे अनुचित तरीके से फारसी-अरबी का प्रयोग हो रहा है। अंतिम अनुच्छेदों में उन्होंने दिल्ली की भाषाई हालत पर छींटाकसी करते हुए लिखा है—

'दिल्ली मे सड़को पर दिखनेवाले अनेक पट्टे और तख्ते इस बात के साक्षी हैं कि किस तरह अदालतो और दफ्तरों की विदेशी भाषा फारसी और रहस्यमय अरबी का एकछत्र राज्य है। लालकुवाँ की जगह लाल-च्चाह, बड़ा दरीबा की जगह दरीबा-ए-

कलां, छोटा दरीबा की जगह दरीबा-ए-खुर्द, जूतेवाला के लिये जुत्तफरोश, टोपीवाला के स्थान पर कुलह-फरोश, सुनार के लिये ज़रगर, धुनिया की जगह नद्दाफ शब्दों का प्रयोग हो रहा है।'

अंत मे उन्होंने बिहार-गजट के प्रति जिसमे राय सोहनलाल के संपादन में हिंदी के अनुवाद प्रकाशित होनेवाले थे बड़ी आशा प्रकट की है। परंतु इस योजना के प्रणेता सर कैंपबेल के चले जाने के फलस्वरूप हिंदी प्रेमी फैलेन की आशा मात्र रह गई। फैलेन को हिंदी की संभावनाओं मे बड़ा विश्वास था। कोश मे नागरी, फारसी और रोमन लिपियों मे शब्द एवं उच्चारण दिए गए हैं। उपर्युक्त वक्तव्य से प्रस्तुत संग्रह की प्रवृत्ति की झाँकी मिल जाती है, फिर भी उदाहरणार्थ कुछ उद्धरण दिए जा रहे है –

H (फारसी लिपि)–उत्पात (रोमन) n m Violence, injury, injustice.

H (फारसी लिपि)–अटकलना (रोमन) v. s. ; S to wander.
कल् to reckon

1. To guess, to make a rough guess, conjecture.
2. To estimate; to make rough estimate; value, assess.
3. To find out; to see through one; to take ones measures, to make out.

A (फारसी) इमदाद (रोमन) n. f. for madad

1. The act of assisting, aiding or abetting.
2. Donation; gift; endowment; grant in-aid.

A (फारसी) औकात – (रोमन) n. f. pl of (फारसी वक्त Time)

1. State, condition, circumstances.
2. Means, appliances, resources, ways and means.
3. Ability, strength, Power.

S (फारसी) तर्क (रोमन) n m. Objection, plea, argument,

2. Reasoning; logic, disputation; discussion.
3. (In logic) A proposition.

इस संग्रह में अरबी संस्कृत हिंदी फारसी अंगरेजी के लिये प्रयुक्त हुए हैं। कोश में कुल २८३ पृष्ठ हैं।[८]

१९वीं शताब्दी के अंतिम दो दशाब्दों में भारत में पारिभाषिक शब्द या शब्दसंकलन संबंधी पर्याप्त कार्य हुआ।[९] यद्यपि विभिन्न प्रांतों में प्रादेशिक भाषाओं

८. सन् १८७९–८० के लगभग फेलेन की न्यू इंगलिश ऐंड हिंदुस्तानी डिक्शनरी तैयार हो रही थी जिसको ६ से १२ खंडों में प्रकाशित करने की योजना थी—उपर्युक्त कोश के अंतिम पृष्ठ पर उसका विज्ञापन देखने योग्य है। प्रकाशन के गुण बताते हुए लिखा गया है—

इन द न्यू डिक्शनरी विल बी फाउंड :

फर्स्ट—ए ग्रेटर डिग्री आव् फुलनेस ऐंड ऐक्युरेसी दैन हैव येट बीन अटेन्ड।

सेकेंड—ए कंसीडरेबुल नंबर आव् इंग्लिश फ्रेजेज ऐंड ईडियम्स विथ इडियोमेटिक हिंदुस्तानी ट्रांसलेशंस।

थर्ड - टेक्निकल टर्म्स इन यूरोपियन आर्ट्स, सायंस ऐंड फिलासफी रेंडर्ड फार द फर्स्ट टाइम इन पापुलर हिंदुस्तानी इन ऐडीशन टु द अरेबिक ऐंड संस्कृत टर्म्स इन प्रेजेंट यूस इन गवर्नमेंट कालेजेज ऐंड स्कूल्स।

फोर्थ टु एट्थ — ··· ··· ··· ··· ··· ··· ।

९. इन कार्यों में बहुत कुछ क्षेत्रीय भाषाओं और बोलियों को ध्यान में रखते हुए विषय विशेष की शब्दावली के अध्ययन के रूप में हुआ है। उनका उल्लेख प्रस्तुत कार्य से पूर्व किए गए शोधकार्य की भूमिकाओं में तथा अन्य स्थानों पर दिया गया है। इस स्थान पर उनका मात्र उल्लेख किया जा रहा है क्योंकि उनमें इस अध्याय में वर्णित कोशों से भिन्न कोई प्रवृत्ति संबंधी या दृष्टिकोण संबंधी विशेषता दिखाई नहीं देती—

१. सन् १८७४—मैनुअल एण्ड वाकेबुलरी आफ दि बिलो डाइलेक्ट संपादक—आर० आई० मर्फ :–प्रकाशक—गवर्नमेंट सिविल सेक्रेटेरिएट प्रेस, लाहौर।

२. सन् १८७८—वाकेबुलरी आफ डाइलेक्ट्स स्पोकन इन निकोबार ऐंड अंडमान आइल्स : संपादक : फ्रा० एड० डेरापस्टार, प्रकाशक सुपरिंटेंडेंट गवर्नमेंट प्रिंटिंग (?)।

३. सन् १८७७—कचहरी टेक्निकैलिटोज, मैट्रिक कारनेगी : इलाहाबाद मिशन प्रेस (हि० स०)।

४. सन् १८७३—ए रूरल ऐंड एग्रीकल्चरल ग्लासरी फार दि नार्थ-वेस्ट प्राविंसेज ऐंड अवध : गवर्नमेंट प्रेस, इलाहाबाद।

की दृष्टि से, परंतु सारे भारत को ध्यान में रखते हुए शब्द बनाना प्रारंभ हो गया था, फिर भी अंगरेज कोशकार लगातार अपनी दृष्टि से पारिभाषिक शब्दों के संकलन में लगे ही रहे। इसी परंपरा का एक महत्वपूर्ण संकलन है – 'ए ग्लासरी आफ इंडियन टर्म्स रिलेटिंग टु रिलीजन, कस्टम्स, गवर्नमेंट, लैंड, ऐंड अदर टर्म्स ऐंड वर्ड्स इन कामन यूस' है। इसके संपादक बी० टेंपुल है। सन् १८९७ में यह संग्रह इंडिया आफिस के प्रकाशक लूजेक ऐंड कंपनी द्वारा ४६, ग्रेट रसल स्ट्रीट, लंदन से प्रकाशित किया गया था। यह प्रधानतः उन लोगों के लिये है, जिनके पास प्रस्तुत संकलन में सम्मिलित शब्दों को भारतीय भाषाओं का अध्ययन करने के लिये पर्याप्त समय नहीं और जो भारतीय विषयों का अध्ययन करते समय भारत के हिंदू और मुसलमान निवासियों के धर्म, शिष्टाचार, प्रथाओं इत्यादि के शब्दों की एक सीमित व्याख्या की कमी का अनुभव करें' (भूमिका)। कोश - कार्य का नमूना इस प्रकार है—

५. सन् १८८५—बिहार पेजेंठ लाइफ : जार्ज ए० ग्रियर्सन : गवर्नमेंट प्रेस इलाहाबाद।

६. ए ग्लासरी आफ एंग्लो इंडियन कलोकियल वर्ड्स ऐंड फ्रेज़ेज ऐंड आफ किंड्रड टर्म्स : जैनेल : जान मरे, अल्जेमार्ले स्ट्रीट : लंदन १८८६।

प्रादेशिक

७. सन् १८७१—मलयालम इंगलिश डिक्शनरी, ए० एफ० फिटेल, बेसेलमिशन, मंगलोर।

८. सन् १८९४ कन्नड़ ऐंड इंगलिश डिक्शनरी : ए० एफ० किटेल : बैसेल-मिशन, मंगलोर।

९. सन् १८९३—इंगलिश-बलूची डिक्शनरी, मि० मेयर।

१०. सन् १९१६—ए डिक्शनरी, आफ कश्मीरी लैंग्वेज, जार्ज ग्रियर्सन,

११. सन् १९३१—नेपाली डिक्शनरी, प्रो० आर० एल० टर्नर।

यह सामग्री हिंदी रिव्यू - जनवरी, १९५९, (लेख : रा. प. जैन, श्री अ. प्र. सुमन—कृषक जीवन संबंधी ब्रजभाषा शब्दावली, हॉबसन जाबसन द्वारा १८८६ में संपादित ए ग्लासरी आफ एंग्लो-इंडियन कलोकियल वर्ड्स ऐंड फ्रेजेज की भूमिका से ली गई है।

नायब	— A Deputy.
विध या विधि	— Rule, decree.
कीमिया	— Alchemy, chemistry.
नालिशी	— Complainant, Plaintiff.
सु-ज्ञान	— Wisdom, intelligence, sagacity.
उज्जल	— Retirement, retiring
हुब्बे वतन	— Patriotism.

सारा कोश रोमन लिपि में मुद्रित किया गया है। इसमें ३१२ पृष्ठ है। इस कोश-शृंखला की एक और कड़ी लेफ्टिनेंट कर्नल डी० सी० फिलाट द्वारा सपादित 'ऐन इंगलिश हिंदी वाकेबुलरी फार हायर स्टैंडर्ड ऐंड प्रोफिशियेंसी कैंडिडेट्स आर राइट वर्ड इन दि राइट प्लेस' है। इसका प्रथम सस्करण सन् १९११ में और दूसरा १९१७ में बैप्टिस्ट मिशन प्रेस (स्थान?) में सपादक ने स्वयं प्रकाशित किया था। कोश के प्रथम संस्करण के आरंभिक वक्तव्य में लेखक ने कहा है कि ५, १८४ अंगरेजी शब्दों के लिये ३००० से भी कम हिंदुस्तानी प्रतिशब्द दिए गए हैं। एक या दो पारिभाषिक शब्द छोड़कर शेष सभी अनपढ़ आदमियों की रोजमर्रे की बोलियों के सामान्य शब्द हैं। वे आगे लिखते हैं —'ये शब्द उपलब्ध कोशों से मात्र चुनकर नहीं रखे गए हैं, वरन् प्रत्येक शब्द की अनेक जाँचें की गई है, और यत्न किया गया है, जिसे सफल ही माना जाएगा, कि प्रत्येक शब्द का ठीक और सही अर्थ और प्रयोग किया जाए और यह बताया जाए कि उसके समान पर्यायों की किस प्रकार उससे भिन्न अर्थच्छाया है। आशा है कि इस शब्दावली का मननपूर्वक अध्ययन विद्यार्थियों को ठीक स्थान पर ठीक शब्द लिखने में सहायक सिद्ध होगा।'

इस कोश में एक अलग भूमिका भी है जिसमें पारिभाषिक शब्दों की विशेषताओं का उल्लेख किया गया है। कर्नल फिलाट ने लिखा है—

'प्रत्येक शब्द के अपने प्राथमिक अर्थ के अतिरिक्त अनेक गौण और दूसरे अर्थ हो जाते हैं। Charge एक लैटिन शब्द से बना है जिसका अर्थ होता है 'a car' यहाँ प्राथमिक अर्थ है— to burden (connected also with carry) cargo and caricature. इसमें दूसरे अर्थ भी जुड़ गए हैं, जैसे to fill, to occupy, impute or register as a debt, to fix the price of, to accuse, entrust, to commission, to commend, to exhort, to give directions to (a jury), to make an

onset. शब्दों के अर्थ इसलिये बदलते हैं, क्योंकि लोकजीवन में परिवर्तन होता जाता है। बड़े बड़े आविष्कार और औद्योगिक विकास, भाषा में भी भारी परिवर्तन कर देते हैं। बड़ी बड़ी सामाजिक और राजनैतिक घटनाएँ भी यही करती हैं। फ्रांसीसी क्रांति ने भाषा पर प्रत्यक्ष प्रभाव डाला। ऊपरी तौर पर पढ़े लिखे भी न केवल शब्दरूपों को बदल देते हैं बल्कि स्वदेशी अर्थों की अभिव्यक्ति के लिये उनका अनुकूलन कर लेते हैं।

'Policy शब्द का अर्थ एक समय केवल 'art of ruling men' (जन शासन की कला) होता था, आज प्रत्येक छोटा व्यापारी अपने धंधे की पालिसी (नीति) की बात करता है।'

कोश मे संमिलित शब्दों के इस शास्त्रीय विवेचन के बाद कोश की रूपरेखा का परिचय प्राप्त करना भी आवश्यक है। उसमे शब्द और अर्थ इस प्रकार दिए गए हैं—

Charge	—सुपुर्दगी मे देना, हवाले करना, काम सौंपना, चार्ज देना या समझाना (ये सभी giveover charge के अर्थ मे); काम अपने जिम्मे लेना या चार्ज लेना (tc take over charge के अर्थ मे)।
Lagat	– (लागत) total actual cost अर्थ, पु (expenditure)।
Hamla	—हमला, हल्ला करना attack of car or infantry
Jhapat	—झपट, स्त्री० (पड़ना) (to pounce upon, method of attack a. v.)
Iljam	इल्जाम (सामान्य अपराध का); तोहमत स्त्री० false charge सामान्य झूठी नालिश; (देखिए accusation)
	—सूरत स्त्री० शक्ल, स्त्री० form,shape रंगरूप पु० जहूर, पु० (act of appearing) हाजिरी (being present) दुनिया जाहिर - परस्त है (the world chiefly regards out ward appearance) ढंग पु० या बरताव (चाल-चलन...)
	—पालिसी, स्त्री० (सरकार इत्यादि की) तदबीर (किसी योजना की)

सारा कोश रोमन लिपि में छपा है। कुल मिलाकर इसमें ३३४ पृष्ठ हैं।

पर्याय रचना

अंगरेजी के भारतीय पर्याय बनाने का काम सर्वप्रथम दिल्ली में ही आरंभ हुआ। इसका उल्लेख श्री पोपटलाल शाह के वैज्ञानिक शब्दसंग्रह (गुजरात) में प्राप्त हुआ। इसके पश्चात् ओल्ड डेल्ही कालेज के पुस्तकालय से सामग्री एकत्रित करने पर यह ज्ञात हुआ कि शब्दावली निर्माण का यह कार्य सन् १८३३ में न होकर १८३४ में शुरू हुआ था। यह कार्य केवल उर्दू को ध्यान में रखकर आरंभ नहीं किया गया था वरन् हिंदी, बंगला और उर्दू तीन भाषाओं की शब्दावली बनाने का विचार था। परंतु किसी कारणवश और प्रधानतः आर्थिक कठिनाई के कारण काम उर्दू तक ही सीमित कर लिया गया। आरंभ में एक 'एजूकेशन कमेटी' बनाई गई थी परंतु यह १८३५ से १८४० तक कोई कार्य न कर सकी। सन् १८४१ में इसकी पुनः स्थापना की गई। इसके कार्यकारी मंडल के सदस्य निम्नलिखित थे—

१. टी० टी० मेटकाफ, २. सी० ग्रांट, ३. ओ० सी० रोथनला,
४. डब्ल्यू० कैनकाटन, ५. द्वारकानाथ टैगोर मि० बेट्स (सचिव)।

इसके अतिरिक्त कार्यसंचालन के लिये एक उपसमिति भी बनाई गई थी जिसके सदस्य मि० प्रिंस माम, मि० मिल, और मि० सदरलैंड थे। अधिकारी मंडल के सचिव बेट्स उस समय देहली कलेज के प्रिंसिपल थे। मंडल ने अंगरेजी से उर्दू में शब्दों का अनुवाद करने के लिये जिन सिद्धांतों का निर्धारण किया था उनमें से मुख्य ये हैं—

१. जब साइंस का कोर्स तथा लफ्ज (शब्द) आए जिसका मुतरायिफ (पर्याय) उर्दू नहीं, मसलन सोडियम, पोटैशियम, क्लोरिन वगैरह तो ऐसे लफ्ज को वर्जित ही (यथावत्) उर्दू में ले लेने में कोई हर्ज नहीं—
२. अगर साइंस का कोई लफ्ज ऐसा है जिसका मुतरायिफ (पर्याय) उर्दू में पाया जाता है तो ऐसा उर्दू लफ्ज लिया जाए-मसलन आयरन के लिए लोहा, सल्फर के लिए गंधक —
३. अगर मुरक्कम (समस्त) लफ्ज ऐसे दो मुफरद (पृथक) अलफाज से बना है जिनमें से एक का मुतरायिफ (पर्याय) उर्दू में मौजूद है मगर दूसरे का मुतरायिफ नहीं तो एक अंग्रेजी और दूसरे उर्दू से मुरक्कम बना लिया जाए। जैसे कोर्ट आफ डाइरेक्टर्स का तर्जुमा 'कचहरी डाइरेक्टरों की', आर्च विशप का 'विशपे आलच' कर लिया जाये।

अन्य सिद्धांत वनस्पति की द्विनामावली से संबंधित हैं। परंतु अंतरराष्ट्रीय शब्द लेने, यथावश्यक देशी शब्द का उपयोग करने और संकर शब्द बनाने के आधारभूत

नियमों का सूत्रपात इन उद्धरणों में स्पष्ट रूप में मिल जाता है। इसके अतिरिक्त अनुवाद संबंधी हिदायतों का उल्लेख भी आवश्यक जान पड़ता है—

'जहाँ तक आसानी से मुमकिन हो अंगरेजी अलफाज के इस्तेमाल से एहतराज (परहेज) किया जाए। जो शब्द किसी साइंस की किताब का तर्जुमा करना चाहता है तो उसे चाहिए कि उस साइंस पर जो किताबें उससे पहले लिखी जा चुकी है उन्हें मुहय्या करे और जब तक कोई खास वजह न हो उन्हीं अलफाज के इस्तेमाल करने की कोशिश करें जो उन किताबों में इस्तेमाल किए गए है।

उस समय समान शब्दावली की परंपरा के लिये यह आवश्यक विधान था। आगे शब्दानुक्रम अनुवाद करने के विषय में वर्जनात्मक निर्देश है—

'मुतरज्जिम (अनुवादक) को लफ्ज ब लफ्ज तर्जुमे की कभी कोशिश न करनी चाहिए। तर्जुमे में सबसे बड़ी बात मसल मफहूम (अभिप्राय) यानी जुमले के माने और मतलब को सही तौर से अदा करना है – ख्वाह उसकी साख्त (बनावट) या तर्जे अदा (अभिव्यक्ति की शैली) कैसी ही मुख्तलिफ (विभिन्न) क्यों न हो।

जैसा कि पहले बताया जा चुका है यह कार्य उर्दू-हिंदी-बंगला अनुवाद के लिये आरंभ किया गया था किंतु साधनों की कमी से न किया जा सका। एक और कारण था। उन साहिबदों को आशा थी कि हिंदुस्तानी भारत के ज्यादा हिस्से में फैलेगी और उसमें उर्दू शब्द खप जाएँगे –

'हिंदुस्तानी जबान कपनी के इलाकों (बिहार और बालाई सूबों) की रियाया के लिये हिंदी के मुकाबले में ज्यादा अहमियत (महत्व) रखती है और अगलब है कि रफ्ता-रफ्ता यही जुबान इन इलाको के गवर्नमेंट मदारिस और कालेजों में जरिय-ए-तालीम हो जायगी।'[10]

यह काम अधिक दिन नहीं चल सका। इस सिलसिले में दूसरा प्रयत्न अलीगढ़ की साइंटिफिक सोसाइटी ने किया। इस सोसाइटी के जन्मदाता सर सैयद अहमद थे। उसने कुछ वैज्ञानिक लेख, पत्रिकाएँ आदि प्रकाशित कीं। बाद में अंजुमन-ए-तरक्की-ए-उर्दू ने इस तरह का काम हाथ में लिया। सर अकबर हैदरी की अध्यक्षता में पर्याप्त मात्रा में शब्दावली और अनुवाद का काम हुआ। इसका सिलसिला एक नए तौर पर उसमानिया विश्वविद्यालय में चला जिसका वर्णन आगे किया गया है।

१०. यह सामग्री रिपोर्ट आव् वर्नाक्युलर ट्रांसलेशन सोसाइटी, ऐडिटेड बाई मि० बेट्स सेक्रेटरी, पब्लिश्ड इन १८४५ से संकलित की गई है।

सन् १८६३ में मेरठ के सिटी मिशन स्कूल के गणित अध्यापक पं० गौरीदत्त ने अपने हेडमास्टर डब्ल्यू० एस० एनडिंग की सहायता से गणित की हिंदी शब्दावली का संकलन किया। इस संकलन का नाम 'साकेतिक कोश' है। यह मेरठ के मुन्तवाई तोपो छापेखाने मे छापा गया और 'उर्दू नागरी और अंगरेजी विद्यार्थियो के लाभार्थ प्रकाशित किया गया था। उसकी भूमिका मे लिखा है--'प्रकट हो कि इस कोश के बनाने से प्रयोजन यह है कि जो लोग उर्दू या हिंदी व अंग्रेजी जानते हों और किसी शास्त्र का साकेतिक शब्द को सरकारी पाठशालाओ मे प्रचारित है उर्दू या हिंदी या अंगरेजी मे जानना चाहे तो इसकी सहायता से सुगमता से जान लेंगे।' इस पुस्तक मे अंगरेजी के नागरी फारसी लिपि में उच्चारण और हिंदी उर्दू के पर्याय दिए गए है। संकलन बहुत छोटा है फिर भी ऐतिहासिक दृष्टि से उल्लेखनीय है।

सन् १८७१ मे बंगाल सरकार ने एक समिति नियुक्त की थी जिसका उद्देश्य कलकत्ता मेडिकल कालेज मे पढ़ाने के लिये भारतीय भाषा की उपयुक्त पुस्तके तैयार करने के तरीके पर विचार करना था। इस समिति के एक सदस्य राजा राजेंद्रलाल मित्र ने भारतीय भाषाओं मे वैज्ञानिक शब्दावली तैयार करने के विषय पर गहन विचार कर उक्त समिति के सामने विचारार्थ रखने के लिये एक निबन्ध तैयार किया था। निबंध पर २७ जुलाई, १८७१ को विचार किया गया और यह निश्चय किया कि इसे सभी मेडिकल पाठशालाओं के प्रधानों के पास उनकी राय जानने के लिये भेजा जाए। प्रधानों से उत्तर पाने के पहले ही सर जार्ज कैंपबेल की सरकार ने कैंपबेल मेडिकल स्कूल के प्रिंसिपल को आदेश दिया कि वे अपने लिये आवश्यक पुस्तकों का अनुवाद आरंभ करा दें और शब्दावली निर्माण की समस्या का जैसा उचित समझे वैसा स्वयं ही हल निकालते रहें। इसके परिणामस्वरूप उपर्युक्त समिति समाप्त कर दी गई। किंतु राजा राजेंद्रलाल मित्र ने अपना निबध प्रकाशित कर दिया। सन् १८७७ मे शिमला मे एक और समिति का आयोजन किया गया जिसका उद्देश्य भारतीय शिक्षा संस्थानों के लिये योरोपीय विज्ञान और कानून की पुस्तकों को भारतीय भाषाओं मे अनूदित कराने की योजना पर विचार करना था। इस समिति की सूचना के लिये राजेंद्रलाल का निबंध भी समक्ष रखा गया।

यह निबंध जिसका शीर्षक 'ए स्कीम फार रेंडरिंग आव् यूरोपियन साइंटिफिक टर्म्स इन्टु वर्नाक्युलर्स आव् इंडिया' है, ऐतिहासिक दृष्टि से बड़ा महत्वपूर्ण है। इसमें पारिभाषिक शब्दावली बनाने के संबंध मे शास्त्रीय दृष्टि से सूक्ष्म विवेचन करके कुछ सिद्धांतों का निर्धारण किया गया है। ये सिद्धांत अनेक वैज्ञानिक पुस्तकों को बँगला में अनुवाद करने के अनुभव से उत्पन्न हुए हैं और इनमे से अधिकांश सिद्धांतो मे बाद मे किए गए कार्य पर अपना प्रभाव डाला है। विषय की समस्याओ का उल्लेख करते हुए उन्होंने लिखा है—'विषय इतना उलझा हुआ है और लोगों के

तत्संबंधी विचार इतने विविध और भिन्न हैं कि मैं उनमें कोई एकमत जैसी चीज स्थापित करने में समर्थ होने की आशा नहीं करता, और जिस प्रधान विचार ने मुझे यह अपनी राय कमेटी के सामने लिखकर प्रस्तुत करने को प्रेरित किया है वह कमेटी को यह दिखाना है कि देशी दृष्टिकोण से इस समस्या का क्या रूप बनता है।' शब्दों को बड़ी मात्रा में उधार लेने के विरुद्ध उन्होंने उस निबंध में यह दलील दी है— 'विश्व की किसी भी भाषा ने इतनी मात्रा में शब्द उधार नहीं लिए जितने कि अंगरेजी ने लिए हैं और उसमें इसकी अच्छी क्षमता है। फिर भी मुझे उसमें संदेह है कि कोई इस बात को सहन कर सकेगा कि उसमें २०,००० माचू शब्द या कामचत्कान या ग्रीक शब्द ही सही एक साथ भर दिए जायँ। यह प्रस्ताव इतना विलक्षण प्रतीत होगा कि लोग प्रस्तावक का परिहास किए बिना न रहेंगे। एक सीमित तरीके पर जानसन ने यह प्रयत्न किया था। परंतु अंगरेजी राष्ट्र ने उनकी भाषा को 'जानसनी' नाम देकर घृणा की दृष्टि से देखा और जब यह बात अंगरेजी जैसी सार्वदेशिक भाषा के लिये हुई तो अपने सामाजिक नैतिक, भौतिक और धार्मिक मतों के संबंध में दृढ़ निष्ठा रखनेवाले भारत में ऐसे प्रयत्नों का क्या हाल होगा, इसे समझने में कठिनाई नहीं होगी।' राजा राजेंद्रलाल अनावश्यक और अप्रकृत शब्दग्रहण के घोर विरोधी थे। वे अनुवाद के पक्ष में थे पर शब्दानुशब्द अनुवाद को बुरा समझते थे। उन्होंने एक सीमित अंतरराष्ट्रीय शब्दावली के साथ ही देशी पर्याय लिखने की सिफारिश की थी। उन्होंने अपने निबंध में शब्दावली के ८ वर्ग बनाकर यह बताया कि किन शब्दों का अनुवाद करना चाहिए और किन का अनुकूलन या स्वीकरण किया जाना चाहिए।

बँगला के क्षेत्र में, बंगीय साहित्य परिषद्, कलकत्ता ने भी पारिभाषिक शब्दरचना का कार्य किया। इसने वनस्पति, भूगोल और ज्योतिष के शब्द बनाए और उन्हें संग्रह का रूप दिया। किंतु बाद में आपसी झगड़ों के कारण इसका विभाजन हो गया और फलस्वरूप यह कार्य भी बंद हो गया। कलकत्ता विश्वविद्यालय में भी शब्दावली निर्माण का कार्य हुआ है। इसका उल्लेख दाते-कर्वे के शास्त्रीय परिभाषा कोश में वर्णित स्रोतग्रंथों में मिलता है। उन संपादकों ने कलकत्ता विश्वविद्यालय की नृशास्त्र भूगोल, रसायनशास्त्र, भेषकशास्त्र (मैडसिन) शब्दावली से सहायता ली है।

मूलतः गुजराती के क्षेत्र में, किंतु अखिलभारतीय दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण शब्दनिर्माण का कार्य प्रो० टी० के० गज्जर ने सन् १८८८ में किया। इस कार्य को प्रेरणा देनेवाले तत्कालीन बड़ौदा नरेश महाराजा सायजी राव गायकवाड़ थे। उन्होंने अपने राजकोष से ५०,००० रुपये भारतीय भाषाओं में वैज्ञानिक और तकनीकी विषयों पर पुस्तकें लिखने के लिये मंजूर किए। प्रो० गज्जर ने कला-भवन नामक

पौलीटेकनीक संस्था स्थापित की थी जो भारतीय भाषा के माध्यम से वैज्ञानिक विषयों का अध्ययन करनेवाली प्रथम संस्था मानी जा सकती है। उन्होंने एक विशाल पैमाने पर बहुभाषिक वैज्ञानिक कोश की योजना बनाई थी और अपने ही मार्गदर्शन में अनेक वैज्ञानिक विषयों की पाठ्यपुस्तकें लिखवाई थीं। प्रोफेसर गज्जर का कार्य पुस्तकें लिखने के साथ आरंभ हुआ था और इसमें बहुत से विद्वानों का सहयोग था। सन् १८६१-६२ मे प्रकाशित कलाभवन की दूसरी वार्षिक रिपोर्ट में प्रो० गजर ने इस काम के आरंभकाल की कठिनाइयों का वर्णन किया है। उन्होंने लिखा है— 'शैक्षिक वर्ष के अंत मे इतनी कम संख्या में पुस्तकें तैयार होने कारण उपलब्ध शब्दों का अभाव है—समुचित पारिभाषिक शब्दनिर्माण की कठिनाई से—यूरोपीय ज्ञान के इस क्षेत्र मे होने के साथ साथ योरोपीय विचारों के लिये पर्याप्त शब्द बनाने की आवश्यकता का अनुभव हो रहा हैं। मैंने देखा कि उपलब्ध अंगरेजी संस्कृत और अंगरेजी भारतीय भाषा कोश वैज्ञानिक विषयों के लिये बहुत ही कम उपयोगी हैं। इन कोशों के शब्दों मे मुझे सूक्ष्मार्थता की कमी और उस सुविधा का अभाव मिला जिसके कारण वे उपयुक्त सिद्ध हो सकते थे। कोशकारों ने इस बात का ध्यान नहीं रखा कि शब्द, मात्र विचार हैं, बीज रूप मे और उनमें कुछ गुणों का होना आवश्यक है जिससे प्रतिफलित होकर वे उपयोगी सिद्ध हो सके शब्दों में सहज संचरणशीलता होनी चाहिए अर्थात् न तो वे क्लिष्ट हों न भारी, और इतने उच्चारण-सुलभ हों कि जिससे उनका उपयोग विस्तृत जनसमुदाय मे हो सके। जहाँतक संभव हो वे अपने रचना-विन्यास के ही बल पर पारिभाषिक अर्थ वहन कर सकें।'

परंतु प्रो० गजर के लिये यह कार्य बहुत सुलभ सिद्ध न हुआ। सन् १८६२-६६ की तृतीय वार्षिक रिपोर्ट में उन्होंने लिखा है—

'प्रसिद्ध विशेषज्ञ, जिनमें से कुछ ख्यातनामा संस्कृतज्ञ भी हैं, शब्दों की कमी कारण पुस्तकें तैयार नहीं कर सके। कुछ ने तो कार्य आरंभ ही नहीं किया। इसलिये मुझे शब्दावली की खोज और निर्माण के काम की गति बढ़ानी पड़ी— 'मंजूषा विभाग ने वेब्स्टर का अंतर्राष्ट्रीय कोश लिया और बड़े बड़े कागजों पर उसके शब्द चिपका कर छपे हुए खानों मे उनके सामने उनके प्रति शब्द (गुजराती, मराठी, बंगला, हिंदुस्तानी, इनके अतिरिक्त संस्कृत और फारसी में) लिखने आरंभ कर दिए। जैसा कि पिछली रिपोर्ट में बताया जा चुका है भारत की प्रधान भाषाओं के मानक-ग्रंथों की सामग्री का भी उपयोग किया गया। परंतु इस अन्वेषणकोश और संस्कृत तथा अन्य भारतीय भाषाओं से विभिन्न विज्ञानों के लिये उपयोगी शब्द-संकलन करने पर भी बहुत बड़ी संख्या मे शब्दनिर्माण की आवश्यकता प्रतीत हुई और यह काम सरल नहीं था। कुछ दिनों बाद कलाभवन से प्रोफेसर गज्जर का संबंध टूट गया और 'मंजूषा' का काम भी समाप्त हो गया परंतु इस विद्वान के

अनुभव का उपयोग नागरीप्रचारिणी सभा ने किया और अपनी शब्दावलीनिर्माण की योजनाओं में उनसे सहयोग प्राप्त किया।

मेकाले के प्रसिद्ध मिंट के पश्चात् ही भारत में अंगरेजी का प्रभुत्व जमना आरंभ हो गया था। योरोप से प्राप्त नए ज्ञान-विज्ञान के अध्यापन का प्रबंध अंगरेजी की पुस्तकों से आरंभ हुआ। परंतु इस प्रवृत्ति के विरुद्ध महाराष्ट्र में एक नव चेतना जाग्रत हुई थी और उन्नीसवीं शताब्दी की तीसरी दशाब्दी से ही विज्ञान के विश्व को मराठी द्वारा प्रस्तुत करने के यत्न प्रारंभ हो गए थे। इस अभियान का श्री गणेश अंगरेजी की पुस्तकों का मराठी अनुवाद प्रस्तुत करके किया गया। अनुवादकों में हरि केशव की (१८३३), डा० मिकाजी अमृत चोगे (१८४२), गोविंद गंगाधर फड़के (१८१२) इत्यादि के नाम उल्लेखनीय हैं। इस संबंध में कोल्हापुर के राजाराम कालेज के प्राध्यापक बालाजी प्रभाकर मोडक का कार्य सर्वश्रेष्ठ है। उन्होंने विज्ञान की अनेक शाखाओं पर लगभग २५ पुस्तकें लिखीं। किंतु बीसवीं शताब्दी में दुर्भाग्यवश धारा दूसरी ओर बहने लगी।[११]

यहाँ यह बता देना आवश्यक है कि १९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में और बीसवीं शताब्दी के आरंभ में जो भी शब्दावली का कार्य हुआ वह अपनी भाषाओं में आधुनिक विषयों की पुस्तकें लिखाने या लिखने के सिलसिले में आनुषंगिक रूप से ही किया गया। शब्दावली अलग से बनाने का यत्न नहीं किया गया। राजेंद्रलाल तथा प्रो० गज्जर की रिपोर्टों और दाते कर्वे कोश की भूमिका से इस बात की पुष्टि होती है। इसी परंपरा में १८९३ में नागरीप्रचारिणी सभा की स्थापना के बाद ही वैज्ञानिक और अन्य शास्त्रीय विषयों की पुस्तकें और लेखादि लिखाने का यत्न आरंभ हो गया। परंतु जिस कठिनाई का अनुभव प्रो० गज्जर के कार्य से संबंधित लेखकों को हुआ उसी कठिनाई का सामना नागरीप्रचारिणी सभा के लेखकों को भी करना पड़ा। उन्होंने सभा को सूचना दी कि शब्दावली के अभाव में पुस्तकें लिखना कठिन है। सभा में अंगरेजी पारिभाषिक शब्दों के पर्याय बनाने का यत्न किया गया। परंतु इस काम में अधिक सफलता प्राप्त नहीं हो सकी, फिर भी काम जारी रहा और सन् १८९८ में सभा ने हिंदी वैज्ञानिक शब्दसंग्रह तैयार करने का निश्चय किया। सन् १९०६ तक विविध विषयों की शब्दावली काफी मात्रा में तैयार की गई। इसमें अनेक विद्वानों का सहयोग प्राप्त किया गया। उल्लेखनीय विद्वानों के नाम हैं—महामहोपाध्याय पं० सुधाकर द्विवेदी, बाबू भगवती सहाय, पं० गंगानाथ झा, पं० विनायक राव, लाला मुंशीराम, बाबू श्यामसुंदरदास आदि जो अनेक भाषाओं के अनुभवी प्रसिद्ध विद्वान थे। सभा द्वारा

११. देखिए, शास्त्रीय परिभाषा कोश की भूमिका : संपादक दाते कर्वे, पृ० २।

प्रकाशित शब्दसंग्रह मे १०, ३३० अंगरेजी के और १६, २६५ हिंदी के शब्द थे।[१२] आरंभ में बनाई गई शब्दावली का पुनरीक्षण करने के लिये एक और समिति बनाई गई थी जिसमें सभी प्रांतों का प्रतिनिधित्व किया गया था। इसके सदस्य निम्नलिखित विद्वान थे—

प्रो० सान्याल, बाबू भगवानदास, बाबू भगवतीसहाय, बाबू दुर्गाप्रसाद, बाबू गोविंददास (बनारस), लाला मुंशीराम, पं० माधव राव सप्रे, प्रो० रामले, पं० रामावतार शर्मा, म० म० सुधाकर द्विवेदी, बाबू श्यामसुंदरदास, बाबू ठाकुरदास, प्रो० गज्जर, प्रो० बनमाली चक्रवर्ती, पं० विनायक राय।[१३]

यह काल हिंदी गद्य के बहुमुखी विकास का काल है। उस समय अनेक विषयों की पुस्तकें हिन्दी मे लिखी गईं। नागरी प्रचारिणी सभा की शब्दावली के आधार पर पं० माधवराव सप्रे, पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी, बाबू भगवानदास, दयाचंद गोयलीय आदि ने हिंदी मे संपत्तिशास्त्र, शासनपद्धति जैसे सामाजिक विज्ञानों पर पुस्तकें लिखीं। उन पुस्तकों की भाषा बड़ी प्रांजल और सिद्धांत विकारों से रहित है। अंगरेजी, फारसी, उर्दू, संस्कृत सभी के शब्दों को लेकर सहज शैली में अपने विचार व्यक्त किए गए हैं। आधुनिक हिंदी गद्य के निर्माता पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी ने संपत्तिशास्त्र मे चल और अचल पूंजी से होने वाले हानि लाभ का जिक्र करते हुए जिस शैली और शब्दावली का व्यवहार किया है वह बाद के लेखकों के सामने विचारणीय आदर्श उपस्थित करता है।[१४] यथा—

'कुछ पेशेवाले ऐसे हैं जो मुद्दत से उसी पेशे को करते जाते हैं। उनके बाप दादे भी कई पीढ़ियों से यही पेशा करते थे जो वे सब करते हैं। ऐसे लोग अपने वंशपरंपरा-प्राप्त पेशे मे बड़े निपुण होते हैं। यह पेशा उनकी रग रग में बिंध सा जाता है। इससे वह जो काम करते हैं वही किसी पेंच, कल या यंत्र से होने लगा तो उन्हें बड़ी हानि पहुँचती है। क्योंकि अपने पेशे को छोड़कर दूसरे पेशे मे ऐसे आदमियों की बात ही अच्छी तरह नहीं चलती। उदाहरण के लिये लाख की चूड़ी

१२. हिंदी वैज्ञानिक शब्दावली, नागरीप्रचारिणी सभा, संस्करण १६८१— गणित।

१३. हिंदी वैज्ञानिक कोश (हिंदी साइंटिफिक) ग्लासरी—भूमिका : बाबू श्यामसुंदरदास।

१४. संपत्तिशास्त्र—महावीरप्रसाद द्विवेदी, पृ० ७०, १०५।

बनानेवाले मनिहारों को देखिए। जब से विलायती चूड़ियाँ इस देश में आने लगीं तब से उन लोगों का रोजगार मारा गया।' (पृ० ४७)

'कागजी रुपया' शीर्षक से एक अध्याय मे उन्होंने लिखा है—

'सभ्यता और शिक्षा की वृद्धि के साथ साथ नोटों के प्रकार और व्यवहार में की वृद्धि हो जाती है। बहुत सा रुपया साथ ले जाना बोझ मालूम होता है। घर में भी दस-पाँच हजार रुपया रखने से बहुत जगह रुकती है। इससे लोग नोट रखना अधिक पसंद करते हैं। पचास रुपए और उससे ऊपर के नोट खो जाएँ, चोरी हो जाएँ, जल जाएँ, या और किसी तरह खराब हो जाएँ तो रुपया डूबने का भी डर नहीं रहता। यदि उनका नंबर मालूम हो तो लिखने पर गवर्नमेंट उतना रुपया अपने खजाने से दे देती है।' (पृ० १०५)

श्री दयानंद गोयलीय की पुस्तक 'भारत की शासनपद्धति' की भाषा कुछ संस्कृतबहुला है परंतु उन्होंने प्रचलित शब्दावली को उदारतापूर्वक स्वीकार किया है। गवर्नमेंट के अर्थ विभाग का वर्णन करते हुए उन्होंने लिखा है—

'अर्थ-विभाग (फाइनैंस डिपार्टमेंट)—विभाग का मेंबर ऐसा व्यक्ति होता है जो या तो कभी इंग्लैंड मे खजानची रहा हो और रुपए पैसे के काम का अनुभवी हो या जो सिविल सर्विस में रहा हो और आर्थिक विषयों मे विशेष योग्यता रखता हो। भारतीय तथा प्रांतीय धन का सुप्रबंध करना, कर्मचारियों की छुट्टी, तनखाह, पेंशन वगैरह बातों पर विचार करना तथा सिक्को, नोटो और बैंक विषयक प्रश्नो का निर्णय करना ये सब इसी विभाग के कार्य हैं। अफीम, नमक, स्टांप, आबकारी आदि से जो आय होती है उसकी तथा टकसाल की देखरेख भी इसी के अधीन है। इस विभाग की एक शाखा सेना का आर्थिक प्रबंध करती है। इस शाखा के उच्च कर्मचारी का नाम कंट्रोलर और आडिटर जनरल है। उसके अधीन प्रांतिक एकाउंटेंट जनरल होते हैं और वे समस्त आय-व्यय का हिसाब रखते हैं।' (पृ० १८)

इस पुस्तक, या अन्य पुस्तकों मे अंगरेजी शब्द अंतरराष्ट्रीय होने की दृष्टि से नहीं रखे गए। केवल संबंधित कोश में उनका प्रचलन होने के कारण ही उन्हें ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया गया। शब्द-निर्माण संबंधी साहित्य को देखने से पता चलता है कि आरंभ से ही 'आवश्यक' और विज्ञान अध्यापकों द्वारा चुने गए अंगरेजी शब्द सभी को स्वीकार्य हैं परंतु इस विषय में 'अंतरराष्ट्रीय शब्दावली के नाम पर कोई आग्रह नहीं था। आज के अनेक 'अंतरराष्ट्रीय' माने जाने शब्दों का उस

१५. भारत की शासन पद्धति, दयानंद, गोयलीय, पृ० १४।

समय अनुवाद कर लिया गया जिनमें कि तत्व और यौगिकों के नाम भी शामिल हैं। अंतरराष्ट्रीय शब्दावली का महत्व तो द्वितीय महायुद्ध के समय से अधिक मात्रा में सामने आया क्योंकि भिन्न भिन्न देशों में बड़े पैमाने पर अन्वेषण कार्य होने लगा और एक देश के आविष्कार को दूसरे देशों के वैज्ञानिकों ने आधार मानकर अपना कार्य आरंभ किया। इस परिस्थिति में विभिन्न राष्ट्रों के आविष्कारकों ने सर्वमान्य शब्दावली का प्रयोग किया और उसे अपनी भाषा में मान्यता दी। यह प्रगति और वैचारिक आदान-प्रदान के लिये अनिवार्य था।

सन् १६०६ में जब पांडे महेशचरणसिंह ने हिंदी में 'रसायनशास्त्र' नामक पाठ्यपुस्तक लिखी[१६] तो वैज्ञानिक शब्दों के महत्व पर प्रकाश डालते हुए बताया—'इस अचेतन रसायनशास्त्र में अधिकतर ऐसे संमिलित शब्द पाए जायँगे जो अपने मूल तत्व के नाम से बने हैं और इसलिये मूलतत्व के नाम सहित भी रसायनिक संमेलन बनाए गए हैं उनमें आगे अथवा पीछे कुछ तोड़-फोड़ करके संमेलनों के नाम गढ़े गए हैं। इस जोड़ तोड़ को उपसर्ग (प्रेफिक्स) और प्रत्यय (सफिक्स) कहते हैं। उपसर्ग उस शब्द (?) को कहते हैं जो मूल तत्व के आदि में जोड़ा जाएगा और प्रत्यय पीछे जैसे Bi or Di अंगरेजी शब्दों का हिंदी (द्वि) रखा गया है और उससे Bisulphate या Disulbhate का द्विगंधित अनुवाद किया गया है और (ate) अंगरेजी साफिक्स को हिंदी भाषा में 'इत' शब्द रखा गया है जैसे (Carbon से carbonate) कर्जन से कर्जनित।

इसके अतिरिक्त अनेक संमेलन ऐसे शब्दों के भी मिलेंगे जिनमें उपसर्ग और प्रत्यय के शब्दों के अतिरिक्त मूल तत्व ही मूल तत्व में जोड़े गए हैं। ऐसी दशा में उसके अर्थ सावधानी से ध्यान देकर एक दो अक्षरों को घटा बढ़ाकर अंगरेजी भाषा के समान हिंदी भाषा में भी समुदायित किया गया है, जैसे—ओषजन + हरिद् ओषिदहरिद (ozygen+chloride = oxychloride)।'

हिंदी पारिभाषिक शब्दावली के निर्माण का प्रथम प्रयत्न वैसे असफल नहीं कहा जा सकता। यह और बात है कि अंगरेजी का प्रभुत्व उत्तरोत्तर बढ़ने और योरोप तथा अन्य देशों की वैज्ञानिक उन्नति के कारण उनमें इन विषयों के साहित्य का बहुत बड़ी मात्रा में सृजन होने के कारण नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा तैयार की गई शब्दावली अपर्याप्त प्रतीत होने लगी और जिज्ञासा तथा अंगरेजी माध्यम से पढ़ाई होने के कारण लोगों की वृत्ति अंगरेजी में पुस्तकें लिखने और पढ़ने की होती गई। फिर भी नागरीप्रचारिणी सभा के उत्साही कार्यकर्ताओं का कार्य महत्वपूर्ण है। जिन विविध

१६. रसायनशास्त्र—पांडे महेशचरण सिंह, प्रकाशक-इंडियन प्रेस, प्रयाग।

विषयों की शब्दावली तैयार की गई थी उनके नाम हैं—ज्योतिष, रसायन, भूगोल, गणित, दर्शन, भौतिक विज्ञान और सपत्तिशास्त्र। इन विषयों के सभी शब्द वेब्स्टर के अतरराष्ट्रीय कोश से चुने गए और उनके अलग पर्याय सुझाए गए। शब्दावली के प्रमाणीकरण के लिये और लोगों की समति से लाभ उठाने के लिये उसे सात भागों में प्रकाशित कर सारे देश में भेजा गया।

नागरीप्रचारिणी सभा अपने कार्य की सीमाओं की ओर जागरूक रही। कुछ वर्षों बाद उसे यह अनुभव हुआ कि ज्ञान-विज्ञान का क्षेत्र विस्तृत हो गया है उसने अपनी शब्दावली के विस्तार और पुनरीक्षण की एक और योजना बनाई। पुनः प्रकाशित शब्दावलियों की भूमिका में लिखा है—'यह शब्द-संग्रह बीस वर्ष पूर्व प्रकाशित किया गया था। और यद्यपि जिस उद्देश्य से यह बनाई गई थी उसका उसने पर्याप्त पोषण किया है, फिर भी यह कुछ समय से बहुत पीछे रह गई है। इस अवधि में वैज्ञानिक साहित्य बहुत बड़े परिमाण मे बढ़ गया है और भारी संख्या में नए पारिभाषिक शब्द बनाए जा चुके है और विज्ञान की भाषा मे संमिलित हो गए हैं। इसके अतिरिक्त यह संस्करण भी समाप्त हो चुका है तथा अपने प्रकार से प्रथम प्रयत्न होने के कारण दोषमुक्त भी नहीं है। अतएव इसके संशोधित और परिवर्धित सस्करण को प्रकाशित करने का निश्चय किया गया है। यह कार्य बनारस विश्वविद्यालय के विज्ञान-विषयों के अध्यापकों की एक समिति को सौंपा गया है। इस समिति ने लगन से कार्य आरंभ कर दिया गया है। संकलन, विन्यास और शब्दरचना का कार्य उन्हें दिया गया है जो कि विश्वविद्यालय मे उनमे से एक-एक विषयों का अध्यापन कर रहे है और जो महाविद्यालय की कक्षाओं के लिये उन विषयों की उपयुक्त पुस्तकें हिंदी मे लिख रहे हैं। उनके साथ ही सभी विज्ञानों के प्रतिनिधियों की एक और समिति उन शब्दों की विभिन्न दृष्टिकोणों से परीक्षा और समीक्षा करने और उपयुक्त हिंदी शब्द चुनने के लिये बनाई गई है। जहां तक शब्द विभिन्न प्रसंगों में अलग अलग अर्थ व्यक्त करता हो तो अंगरेजी शब्द के ठीक और सही अर्थ को व्यक्त करनेवाला हिंदी पर्याय निश्चित करने की चेष्टा की गई है। हिंदी शब्दों को उपयुक्त, व्याकरणसंमत रूप देने के लिये एक संस्कृत पंडित नियुक्त किया गया है। यहाँ यह बताना आवश्यक है कि हमारा काम विशुद्धतावादी नहीं है। हमने विदेशी शब्दों को भी बिना संकोच के स्वीकार किया है और अगरेजी शब्दों को हिंदी के उच्चारण की दृष्टि से संस्कार करके ग्रहण कर लिया है।

प्राकृत की एकमात्र प्राप्त मातृकाक्षरी हिंदी शृंगारिक रचना

श्वेतांबर वीरचंद्ररचित मातृका शृंगार गाथाकोश

अगरचंद नाहटा

वर्णमाला के अक्षरों के आद्य पदवाली अनेक रचनाएँ प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, हिंदी, राजस्थानी, गुजराती आदि भाषाओं में प्राप्त हैं। भारत की सबसे प्राचीन लिपि का नाम ब्राह्मी है। समवायाग सूत्र के अनुसार उस लिपि के मातृकाक्षर ४६ थे। आगे चलकर कुछ अक्षर और बढ़े और संख्या ५२ तक पहुँच गई। इसलिये बावनी के नाम से हिंदी, राजस्थानी, गुजराती में शताधिक रचनाएँ प्राप्त होती हैं। प्राचीन रचनाओं में मातृका या माई नाम भी मिलते है। बावनी संज्ञक प्रायः १५० रचनाएँ मुझे मिल चुकी हैं परंतु उनमें प्राकृत की यह एक ही रचना मिली।

प्राकृत भाषा में संस्कृत के सभी अक्षरों का व्यवहार नहीं होता इसलिये वर्णमाला के कुछ अक्षर प्राकृत की मातृका शैली की रचनाओं में कम पाए जाते हैं। वैसे प्राकृत भाषा में मातृकाक्षर से प्रारंभ होनेवाली रचनाएँ हैं भी बहुत कम। हमारे संग्रह में वादीगजकेसरी श्री यशोभद्र सूरि-शिष्य श्वे० वीरचंद्र का रचित मातृका शृंगार गाथा कोश नामक महत्वपूर्ण अप्रकाशित रचना की दो हस्तलिखित प्रतियाँ हैं जो १७वीं शताब्दी की लिखी हुई हैं। रचयिता वीरचद्र ने अपने गच्छ का उल्लेख न कर केवल श्वेताबर सप्रदाय का ही उल्लेख किया है इससे यह रचना १३वीं शताब्दी के बाद की नहीं लगती। संभव है १०वीं १२वीं शती के बीच की हो। प्राकृत-भाषा में जैन साहित्य ही अधिक रचा गया है और जैन मुनि संयमी और वैरागी होने के नाते शृंगारिक रचनाएँ प्रायः नहीं करते। परंतु प्रस्तुत रचना शृंगारिक है। इस दृष्टि से भी यह विरल और विशिष्ट रचना है।

मातृकाक्षर से प्रारभ होनेवाली रचनाओं के पद्यों में सर्वप्रथम 'ओम नमः सिद्धम' इन अक्षरों के एक-एक पद्य देने के बाद अ आ आदि स्वर और व्यंजनों के अक्षरवाले पद्य रहते हैं। प्रस्तुत गाथा कोश रचना में एक विशेषता यह है कि इसमें जो ५ अक्षर पहले आ गए हैं उनकी पीछे पुनरावृत्ति नहीं की गई है। साथ ही पता नहीं क्यों उ और ब अक्षरवाले पद्य भी नहीं रचे गए हैं।

वादीगजकेसरी श्री यशोभद्रसूरि शिष्य श्वेतांबर वीरचंद्र प्रणीतः

ओं नम आदिमातृकाशृंगारगाथाकोशः

अथ ओं नम आदिमातृकाशृंगारगाथाकोशः प्रारभ्यते

नमिय हरिपायपउमं, सरस्सईए मदालगमणीए ।
सुललिय गाहाकोसं, भणामि सिंगाररसकलियं ॥ १ ॥
ओच्छिद्दय[1] घरिआरे[2] ओ उच [य] पयोहरा विसालच्छी ।
ओलग्गइ तुअदारं, ओलंबिय वाहुनालेहिं ॥ २ ॥
न गणइ कलाकलावं, न लहई निदं न जंपए वयणं ।
नवकमल कोमलंगी नहु जीवइ सुहय तुअ[3] विरहे ॥ ३ ॥
मयगललीलागमणी, मणहरकलहंसमहुरआलावा ।
मलिणमुही तव विरहे मयरद्धयजू[4] वट्टए बाला ॥ ४ ॥
सर उज्जल ससिवयणा, सारइ कलहंस कोमलालावा[5] ।
सवणं दोलय जुयला, सरय[6] तुमं सुहय पसयत्थी ॥ ५ ॥
धवलहरे रयवल्लह, धवलच्छी जात एखणं रमिया ।
धम्मिल्लगलियकुसुमा धरय मणंनेय[7] तुअ विरहे ॥ ६ ॥
अमयससि सकमउला, अमयमुही गुरुनियंबपब्भारा ।
अलहंती तुअ सुक्खं, अप्पाणं झूरए बाला ॥ ७ ॥
आहारं न हु इच्छइ, आलावइ नेय कीरसालहियं ।
आसा सिज्जउ सुंदरि, आमुत्ति[8] विभूसिया बाला ॥ ८ ॥
इत्तियमित्ता नयणा, इत्तियमित्तंपि तीय थणजुयलं ।
इच्छइ तुअ संसग्गं, इयरजणे खिवइ न हु दिट्ठी ॥ ९ ॥

१. उच्चट्ठिय क ।
२. घरवारे क; घरिवार ख ।
३. तुव ख ।
४. मयधज क; मयरद्धय ख ।
५. कोमलुवळावा ख ।
६. सयर ख ।
७. मखिनेव क ।
८. आमित्त क ।

ईहंती तव सुरयं, ईसंपि सुएइ जेइ भुंजेइ।
ईसावि साविं[1] नडिया, ईसरसुय तुम्र कए बाला ॥१०॥
उन्नयनियंवविंबा[2] उम्मूलिय हत्थिखंभ मणहरणा।
उज्जलकओलसोहा उक्कंठिय तुम्र कए बाला ॥११॥
एगमणा पउमच्छी[3] एरावणकुंभ विब्भमथणड्ढा।
एणाच्छी तुम्र विरहे, एगाहारं[4] कुणइ बाला ॥१२॥
ओंधघणपीणसिहिणा, ओंतो मुहकमलपरिमलुग्गारा।
ओंचइ हिमगिरितणयं[5] ओंगय[6] बाला कए तुज्झ ॥१३॥
कलहंस लीलगमणा कवोलवाली लुलच्चि[7] चिहुरचया।
कमलमुही कलमलयं, करिगमणं जाउ[8] सामरइ ॥१४॥
खणमित्तं रमिऊणं, खणतरुणवियटजाव तए मुक्का।
खणविरहदुव्वलंगी, खणेण खामोयरी जाया ॥१५॥
गलगज्जिय गयगमणा, गयवरमयगंधगव्वियसरीरा।
गंभीरनाहिमंडल, गमइ दिणं तुम्रकए दीणा ॥१६॥
घणतुंगपीण सिहिणा[9], घणमुक्कमयंकउज्जलक ओला।
घणमयणपज्झरंती, घरदारं मुयइ न हु तुज्झ ॥१७॥
चउसठिकलाकलिया, चवलच्छी तुम्र सुहं पलोयंती।
चच्चर निगेसु कीलई, चलंत मणिमेहल रवेण ॥१८॥
छणससिकओलसोहा[10], छड्डगाह जलमहल्लकल्लोला।
छप्पयमंदिरवयणा, छंडइ[11] न हु सुहय तुम्र दारं ॥१९॥

१. ईसाविसाइ ख।
२. बिंबी क।
३. एगपणाभो मच्छी ख।
४. एकाहारं ख।
५. तणुयं क।
६. ओंगए ख।
७. लुलित्त ख।
८. जान।
९. थणपीन तुंगसिहुणा ख।
१०. सोहइ ख।
११. छड्डइ ख।

जय लच्छिव्व मयच्छी, जइ[1] लब्भइ कहवि दिव्वजोएण।
जयढक्का सा[2] वज्जइ, जय वल्लह तिहुयणे तुज्झ ॥२०॥
झणझणिर[3] नेउररवा, झरति मयणोइमुक्क सिक्कारा।
झायंती तुह सुरयं, झत्ति पहुत्ता घरे तुज्झ ॥२१॥
टहटहरवसिहरेहिं[4], टाल्लिजंतीय पिसुणघट्टीहिं[5]।
टलइ मणं न हु तीए, टंकुक्किन्नं कए तुज्झ ॥२२॥
ठविऊण तुमं चित्ते, ठवलइ सकेयमंदिरं बाला।
ठक्कुर तुह रत्तमणा, ठवइ पयं मुत्ततरलच्छी ॥२३॥
डसणु[6]ज्झलंतकिरणा, डक्का मयणेण विसमकयवयणा।
डमरुय सरिसमज्झा, डज्झइ[7] तुह विरहजालाहिं ॥२४॥
ढंढोलइ तुह सिज्जं, ढुलुहुलु रोवइ वियट्ट तुह विरहे।
ढलइ मणं नहु तीए, ढमेरसरिसे जणे कहवि[8] ॥२५॥
णवकणयकमलवयणा, णवचपयकुसुम सुरहिगधड्ढा[9]।
णहु जीवइ तुह विरहे, णवमयगलमत्तगयगमणा ॥२६॥
तयलोयडसणनिलया,[10] तवलच्छी गुरुनितंब दुल्ललिया।
तवइ तणं[11] तुह विरहे, तमालदल सामलाबाला ॥२७॥
थणभरविणमियदेहा, थलकमलणिकुसुम रत्तकरचरणा।
थभथडियव्व सुंदर, थक्काविलया कए तुज्झ ॥२८॥
दरवियसियकमलच्छी, दसदिसिपसरंत कतिपब्भारा।
दलइंदनीलवन्ना, दमइ मणं तुहकए दीणा ॥२९॥

१. जय क।
२. सा ख।
३. झणरणिर क।
४. °सिवरेहिं ख।
५. °घट्टहिं ख।
६. डसण° ख।
७. मज्झै क।
८. कहमि ख।
९. °गंधड्ढा क।
१०. °तिलया क।
११. तणं ख।

पप्फुल्लपउमवयणा, पट्ट सुयविविह भूसिय सरीरा।
पच्छन्न सुरयलद्धा, पइदियहे[1] सुयइ पयलच्छी ॥३०॥
फलिहमणिउसणजुएहा, फुरंतमणिकिरणनिज्जियतमोहा।
फलिणीदलसमनयणा, फुरय मणा तीय तुम्ह विरहे ॥३१॥
बहुविह विहियविलासा, बलिदमण[2] तणुब्भवे य चिहुरंगी।
बंदिरिव वियास[3] सुंदरि[4] बद्धा तुह विरह पासेहिं ॥३२॥
भरहाइ सत्थकुसला, भमरालयवयणनिज्जियमयंका।
भमरच्छलकयतिलया, भमइ दिणं तुहकए मुद्धा ॥३३॥
रइरसविलासमुद्धा, रमणच्छलगलियमयणसामत्था।
रमइ मणं नहु तीए, रइरमणसमं अइसरूवा ॥३४॥
लक्खणछंद वियड्ढा, लइ गी जक्खकद्दमविलित्ता।
लच्छिव्व कमलहत्था लब्भइ नहु सा अउन्नेहिं ॥३५॥
वरकडियउमणहरणां, वरकरिनरकुंभविब्भमघणट्ठा।
वज्जावलिव्व डसणा वहइ मणे सा तुमं बाला ॥३६॥
हरिवयणा हरिणच्छी, हरिलहरी हरि चरिव्व तणमज्झा।
हरवसह[5] लीलगमणा, हक्कारिय सा तुमं बाला ॥३७॥
सबोहिऊण तीए[6], नीओ दूई इ तीय वासहरं।
पच्छा जं च विढत्ता[7], अकहकहा कइ कहिज्जंति ॥३८॥
पढमपयं ठवि पढमं, तह वीयपयं च बीयठाणेसु।
तइय चउत्थेसु कमे, हुंति अणेगाउ गाहाओ ॥३९॥
वाइगकुंभकेसरि जसभद्दमुणिंदचलणमत्ते हिं।
रइयं गाहाकोसं, सेयंबरवीरचंदेण ॥४०॥

इति गाथाकोशः समाप्तम् ।[8] *

१. पइदियहं ख।
२. बलिदणु° क।
३. डिया क।
४. सुंदर ख।
५. हरिविसइ क।
६. एयं ख।
७. पच्छा जंस जुंयिां ख।
८. इति श्रीं नमो मातृका शृंगार गाथाकोशः।

* बावनी सं

जवाहर राय बिलग्रामी

शैलेश जैदी

•

अयोध्या के प्रांगण मे स्थित बिलग्राम की पावन धरती अनेक प्रतिभाशाली विद्वानों को जन्म देने के कारण इतिहास मे अद्वितीय है। समय समय पर उच्चकोटि के गायक, कवि तथा महापुरुष यहाँ की उर्वर भूमि के पयस्वी अंक मे पलकर फूलते-फलते रहे हैं। यहाँ के साधकों ने साहित्य की जो अविस्मरणीय सेवाएँ की हैं कोई भी सहृदय लेखक उनका उल्लेख करने मे संकोच नहीं करेगा। हिंदी साहित्य का इतिहास विशेष रूप से यहाँ के महान् साहित्यसेवियो का ऋणी रहेगा। जवाहर राय बिलग्रामी, बिलग्राम के इन्हीं नररत्नो मे से एक है।

जवाहर राय का जन्म बिलग्राम के धन-धान्य से संपन्न राय परिवार मे संवत् १८५५ वि० के लगभग हुआ। इनके पूर्वज पहले मलीहाबाद मे रहते थे। जवाहर राय के पिता रतनराय का विवाह बिलग्राम के प्रतिष्ठित राय परिवार मे राय हरिबंस की कन्या से हुआ था। राय हरिबंस हिंदी के एक श्रेष्ठ कवि तथा विद्वान् थे। रतनराय ने बिलग्राम के सुरम्य वातावरण से प्रभावित होकर यहीं पर स्थायी रूप से निवास ग्रहण कर लिया। जवाहर राय ने अपना वंश परिचय स्वयं इस प्रकार दिया है--

> कहाँ लौं बखान कीजे और कालिका ते हम
>   बंस ही के हेत यह गिनती गनाई है।
> प्रथम प्रसिद्ध राय राम औ भवानी दास,
>   बानो के बिलास पर पीत सरसाई है।
> तिनके सपूत राय जगन प्रगट जग,
>   मलहिआबाद बुनियाद चलि आई है।
> उनके द्वै सुत एक रामसिंह अनेन राय,
>   जिनके सुभाय सदा सील के निकाई है॥[1]

१. जवाहर राय, जवाहर आखरी, हस्तलिखित, ४८ जदीद, आसफिया लाइब्रेरी, हैदराबाद।

रामसिंह के जानियो चार सबन अभिराम।
नंदराम बिसनाथ अरु जीतराम जयराम ॥
चार नंद के नंद पुनि, प्राननाथ परबीन।
अभयराम अरु स्याम कहि आदिराम प्रभुलीन ॥
अभयराम के एक सुत रसिक राय है नाम।
तिनके खगपति निरंजन चतुरसेन हरिराम ॥
हरी राम के रत्न सुत सिरीनगर में आन।
बास कियो ससुराल हित जानै सकल जहान ॥
नाम राय हरिबंस है कहत घसीटे राय।
ते नाना मेरे सुनो तिनके गुन चित भाय ॥
× × ×
रतन राय के तीन सुत जेठे जीवन राम।
भाखा अरबो फारसी तुरकी इति अभिराम ॥
चारो विद्या में बने रूप सील गुनवान।
बड़े पुरुष सब करत हैं आपुन तिन संमान ॥
मुनशी करी दिवानगी कितहीं बार अनेक।
प्रगट भये उमराव अरु रामचंद्र के टेक ॥
मद्ध जवाहर जानियो बरनत जो यह ग्रंथ।
भाखाहू अरु पारसी दोनों समझत पंथ ॥
छोटे नंदकिशोर है येस ऐ जिय जान।
रसिक चतुरमुख करत है दाया कर संमान ॥

स्पष्ट है कि जवाहर राय के परिवार में सभी लोग शिक्षित तथा विद्यासंपन्न थे। इनके ज्येष्ठ भ्राता जीवनराम, अरबी फारसी, तुरकी तथा हिंदी चारों ही भाषाओं के विद्वान् थे। जवाहर राय स्वयं भी फारसी भाषा का अच्छा ज्ञान रखते थे। इनके छोटे भ्राता नंदकिशोर हिंदी के अच्छे कवि थे। इनकी स्फुट रचनाएँ हस्तलिखित संग्रहग्रंथों में मिल जाती हैं।" लेखक को जवाहर राय की कुछ स्फुट कविताएँ तथा उनका एक अलंकारग्रंथ प्राप्त हुआ है, जिसके प्रकाश में इन्हें एक अच्छा कवि स्वीकार किया जा सकता है।

जवाहर राय का अलंकार ग्रंथ जवाहर आखरी के नाम से है। इसकी रचना कवि ने मित्रों के आग्रह पर संवत् १८९६ वि० में की थी।

एक दिवस बैठो हुतो, सब मित्रन के संघ।
चरचा तहँ कछु हौत लै कबिताई को अंग ॥
सबही मिलि मोसो कही, एवं दयाल अति चित्त।
अलंकार समझौ जु कछु ताको करो कबित्त ॥

× × ×

भादो सुदि तिथि सप्तमी और बार गुरुवार।
बिलगराम से नगर मे भयो ग्रंथ अवतार॥

आचार्यत्व के उच्च आसन तक पहुँचने की लालसा ने रीतिकालिन कवियों को काव्यशास्त्र के अंगों की व्याख्या में कुछ इस प्रकार उलझा दिया था कि हर छोटा बड़ा कवि इस पद को प्राप्त कर लेना चाहता था। फलस्वरूप रस, अलकार, नायिकाभेद, नखशिख आदि पर बहुत सी रचनाएँ प्रकाश मे आईं। इस संदर्भ मे मोहनलाल मिश्रकृत शृंगारसागर, केशवदासकृत कविप्रिया, चिंतामणिकृत कविकल्पतरु, भूषणकृत शिवराजभूषण, मतिराम कृत ललितललाम, यशवंत सिंहकृत भाषाभूषण, कुलपति मिश्रकृत रसरहस्य, देवकृत भावविलास तथा शब्द-रसायन, सुरति मिश्रकृत, अलंकारमाला, श्रीपति कृत अलंकारगंगा, भिखारीदासकृत काव्यनिर्णय, सोमनाथ माथुरकृत रसपीयूषनिधि, रघुनाथकृत रसिकमोहन, दूलह-रायकृत कविकुलकंठाभरण, बेनीप्रवीणकृत नानाराव प्रकाश, पद्माकर भट्टकृत पद्माभरण, प्रतापसाहिकृत अलंकारचिंतामणि, तथा बाबू गोपालचंद्र गिरधर दासकृत भारतीभूषण आदि अलंकार ग्रंथों का नाम लिया जा सकता है। यह एक संक्षिप्त सूची है। इस प्रकार के जाने कितने ग्रंथ ऐसे है जो अभी प्रकाश मे नहीं आ सके हैं। जवाहर राय कृत जवाहर आखरी भी एक ऐसा ही ग्रंथ है।

कवि ने ग्रंथ का प्रारंभ मगलाचरण से किया है। तत्पश्चात् गुरु की स्तुति की गई है। 'धन्न मेरे भाग अनुराग सों विराजमान, सम्भु सम संभु संभुनाथ गुरु पाये हैं' के प्रकाश मे इनके गुरु का नाम शंभुनाथ स्वीकार किया जा सकता है। गुरु की स्तुति के पश्चात् वंशचर्चा की गई है। तदुपरात बिलग्राम की सुरम्य तथा सुमधुर पावन भूमि की स्तुति की गई है। विषय का प्रारंभ इन शब्दों से हुआ है—

नारी अरु सब नरन के सोभा भूखन जान।
याते मैं बरनन कियो अलकार ही आन॥
ताराधिक भूखनन ते सोभा दंपति होत।
उपमादिकलंकार ते त्यौं कबित्त की ज्योत॥
शब्दा अरु अर्था द्विबिध अलंकार है सोइ।
शब्द प्रथम ही होत है समुझै अरथ संजोइ॥

इसके पश्चात् कवि ने गुणों का वर्णन किया है। प्रारंभ में माधुर्य गुण के लक्षण दिए गए हैं। तत्पश्चात् माधुर्य का उदाहरण प्रस्तुत किया गया है। इसी प्रकार ओज तथा प्रसाद गुणों के भी लक्षण तथा उदाहरण दिए गए हैं। तदुपरांत वक्रोक्ति, काकोक्ति, अनुप्रास, श्लेष, उपमा, आदि अलंकारों का विस्तार सहित

वर्णन किया गया है। ग्रंथ अपूर्ण होने के कारण इसका समुचित मूल्यांकन नहीं किया जा सकता। फिर भी इतना कहा जा सकता है कि रीतिकालीन अलंकार-ग्रंथों के विशाल साहित्य मे इस ग्रंथ का भी अपना एक महत्व है।

जवाहर राय बिलग्रामी मूलतः शृंगार के कवि थे। उनकी सभी उपलब्ध रचनाओं का वर्ण्य-विषय शृंगार ही है। शृंगार के अन्य कवियों की भाँति उन्होंने भी मुक्तक को अपने काव्य के लिये उपयुक्त समझा और दोहा, सवैया तथा कवित्त आदि छंदों म महत्वपूर्ण कविता की। उनकी सहृदय कल्पनाएँ चमत्कारतत्वों को अपने आंचल मे छिपाए हुए, अनुभूत भावो को सशक्त तथा सजीव करने के प्रयास मे सलग्न दिखाई पड़ती हैं। एक उदाहरण —

> स्रवन नहीं वा रवन के, बिधि प्रबीन जित्त चोर।
> बचन अमिय हित पियन को राखे कवक कटोर॥[२]

नायिका के स्रवनों पर स्वर्ण के कटोरे का आरोप बहुत ही सुंदर तथा उपयुक्त ढंग से किया गया है। नायिका के रूपचित्रों के सकलन म भी जवाहर राय पीछे नहीं दिखाई देते। नीचे के कवित्त मे सहेलियों के झुरमुट म जाती हुई एक यौवन-मदमाती नायिका का सुंदर तथा सजीव चित्र प्रस्तुत किया गया है—

> साथ है सहेली जाके परम नवेली बाल,
> देखत निहाल ह्वै लाल गति चाल की।
> जोबन की जोत अंग जगर-मगर होत,
> तैसेई उदोत बीना करे दुति भाल की॥
> देखि उरबसी उरबसी उरबसी रूप,
> कौन के न सुधि हरी कंठ कंठमालकी॥[३]

नायिका की मादक गति, उसका जगर मगर करता हुआ यौवन उसके उज्ज्वल भाल की आभा, उसका उर्वशी के समान हृदय मे निवास करनेवाला रूप तथा उसके गले मे पड़ी हुई सुंदर कंठमाला किसी भी सहृदय की सुध-बुध हर लेने के लिए पर्याप्त है।

अंत मे जवाहर राय की कविता के कुछ स्फुट उदाहरण उद्धृत किए जाते हैं। इनके प्रकाश में कवि को समझने में आसानी होगी।

२. बासित बिलग्रामी, मिफताहुल हिंदी, हस्तलिखित।
३. जवाहर बिलग्रामी, जवाहर आखरी, हस्तलिखित।

कवित्त के स्फुट उदाहरण

नुपुर होहिं नहिं तरून पद भलो बने यह तंत्र।
भवसुर मने जगावहीं कमलज के पढ़ि मंत्र॥
जथा नाम गुन है तथा, सत लखै यह यह बाम।
लटक न ऐसी और मैं याते लटकन नाम॥
उदर सरबर कहत कबि सो सब ठीक रसाल।
नाभि भँवर त्रिबली लहर, रोमावली सवाल॥
लसत रुमावलि रेख नहि चकवाक कुच चार।
बदन चंद लख चोंच में दीन्हो हार सेवार॥
दर्पन नहिं कंदर्प के दर्पन माहिं रतीक।
तुब कपोल लहि के कहौं क्यों कर लागै नीक॥
करके सखी सिंगार सब, काजर देति दुराय।
सत तीछन दृग कोर तें पोर मोर कटिजाय॥
छुरी चीकनी जगमगी सहज तूल मखतूल।
डारयो तियहि कि डारिबी नायन की मति भूल॥
कलम होत हैं जलम ते सो गुलाब किंह हेत।
तुब मुख बास सुबास हित मानो करबट लेत॥
नाह कंब मुख साध लग, करत न साँझ सवार।
तुप ग्रीवां सिवरन हरी हरि सों करत बिगार॥
धन धन धन भरके सुघन, तेरो नैनन दीस।
बन जिह बन सर खोच बन जीत लई जगदीस॥

× × ×

कर केलि जगी अलबेलि प्रिया स्रम सीकर आनन पै परियाँ।
करके बलियां करके सु जवाहर टूट गयीं मुक्ता लरियाँ॥
कुच ऊपर कंचुकी जारी जरै दूर की छबि नैनन यौ भरियाँ।
शिव जीत मनोज लियो सो मनो तन त्रान की टूट गई करियाँ॥

पृथ्वीराज-संयोगिता-विवाह : ऐतिहासिक महत्व

अशोककुमार श्रीवास्तव

•

भारतवर्ष के सर्वसाधारण तथा सामान्य शिक्षितों मे पृथ्वीराज चौहान को जितनी ख्याति प्राप्त है, वह उसकी महान् विजयों के कारण नहीं, अपितु संयोगिता के साथ उसके विवाह के कारण मिली है। वास्तव मे भारतीय इतिहास की यह एक ऐसी रोचक और महत्वपूर्ण घटना है, जिसने उत्तरी भारत के दो शक्तिशाली राज्यों चौहानों और गहड़वालों के भाग्य का निर्णय कर दिया। इस घटना ने ही इस देश मे तुर्की साम्राज्य की स्थापना का एक महान् अवसर प्रदान किया। भारतवर्ष के मध्यकालीन युग के प्रारंभिक चरण मे चौहान और गहड़वाल नामक दो राजपूत जातियाँ शासन कर रही थीं, जो अपनी शक्ति और विशालता के लिये प्रसिद्ध थीं। सौभाग्य से इन दो राजपूत घरानों को पृथ्वीराज चौहान (११७८–११९२ ई०) तथा जयचंद (११००–११९३ ई०) नामक अत्यंत महत्वाकांक्षी और कुशल शासक प्राप्त हो गए। सबसे बड़ी विशेषता तो यह थी कि ये दोनो शासक एक-दूसरे के समकालीन थे। अत्यंत महत्वाकांक्षी होने के कारण पृथ्वीराज, जो अजमेर का चौहान शासक था, निरंतर अपने साम्राज्य का विस्तार कर रहा था।[1] दूसरी ओर कन्नौज का गहड़वाल शासक जयचंद भी अपनी राजधानी से लगातार अपनी युद्ध और विजय की योजनाएँ बना रहा था।

पृथ्वीराज रासो का तत्कालीन लेखक चंदबरदायी तो यहाँ तक लिखता है कि जयचंद ने एक विश्वविजय (दिग्विजय) की योजना बनाई थी जिसके लिये उसने 'राजसूययज्ञ' किया था। इसी शुभ अवसर पर जयचंद ने अपनी पुत्री संयोगिता, जो अपनी सुंदरता तथा गुणों के लिये प्रसिद्ध थी, के विवाह के लिये स्वयंवर का आयो-

१. ताज-उल-मासिर का लेखक हसन निज़ामी पृथ्वीराज के लिये लिखता है कि अपनी विशाल सेना और उसकी शक्ति को देखते हुए पृथ्वीराज विश्वविजय का विचार करने लगा। इलियट, जिल्द दो, पृ० २१४।

जन किया था।[2] जयचंद के महत्वाकांक्षी होने का प्रमाण तत्कालीन मुस्लिम इतिहासकारों के वर्णन से भी प्राप्त होता है।[3] इसकी पुष्टि चंदबरदायी के उल्लेखों द्वारा होती है।

ऐसे वातावरण में उत्तरी भारत के इन दो राजपूत घरानों में संघर्ष का होना नितांत आवश्यक था, क्योंकि इनकी सीमाएँ भी कई मील तक एक दूसरे से मिली हुई थीं। साथ ही चौहानों के पूर्ववर्ती शासकों ने अपने समकालीन गहड़वालों के शासक को परास्त कर दिल्ली[4] और उसके संनिकट के प्रदेशों पर अपना अधिकार कर लिया था। इन दो घरानों के भावी संघर्ष का कारण दिल्ली था। जयचंद चौहानों को परास्त कर दिल्ली तथा उसके संनिकट प्रदेश पर पुनः अपना अधिकार स्थापित करना चाहता था, जिससे उसकी जाति परंपरा के खोए हुए संमान को फिर से प्राप्त किया जा सके परंतु उसके लिए यह कठिन कार्य था। पृथ्वीराज तृतीय एक महान् योद्धा था, अतः उसके होते हुए जयचंद की सफलता की आशा नहीं की जा सकती थी। यदि इन दोनों राजपूत घरानों में प्रत्यक्ष संघर्ष हो जाता तो निश्चय ही इस बात का निर्णय हो गया होता कि समस्त देश का सबसे शक्तिशाली शासक कौन है, पृथ्वीराज अथवा जयचंद। परंतु भाग्य ने दोनों में से किसी का भी साथ न दिया और इस आपसी कलह में दोनों विभूतियों को अपनी महात्वकांक्षाओं के साथ एक ही वर्ष के अल्पकाल (११९२–११९३ ई०) ने एक-एक करके सर्वदा के लिये सुला दिया।

स्पष्ट है कि पृथ्वीराज चौहान और जयचंद के बीच संघर्ष के कारण अनेक रहे होंगे जिनका संक्षेप में ऊपर संकेत किया गया है परंतु इनके दीर्घकालीन संघर्ष में

२. रासो सार, संपा० श्यामसुंदरदास, बनारस, १९०४, पृ० १६७ और आगे।

३. हसन निजामी का ताज-उल् मासीर। इलियट, जिल्द दो, पृ० २२३।

४. चौहान के प्रसिद्ध शासक विग्रहराज चतुर्थ (११५०–६४ ई०) ने अपने समकालीन गहड़वाल शासक विजयचंद (११५५-११६९ ई०) को पराजित कर दिल्ली पर अधिकार कर लिया था। डा० आर० एस० त्रिपाठी : हिस्ट्री आफ कन्नौज (१९५९ ई०), पृ० ३२०; डा० दशरथ शर्मा, अर्ली चौहान डाइनेस्टीज (१९५९ ई०), पृ० ५९–६०; डा० रामबृक्ष सिंह : दि हिस्ट्री आफ दी चाहमानाज (१९६० ई०) पृ० १४५–४८; डा० कु० रोमा नियोगी, दी हिस्ट्री आफ दी गहड़वाल डाइनेस्टी (१९५९ ई०), पृ० ९१-९४।

पृथ्वीराज तृतीय और संयोगिता के विवाह ने अग्नि में घी का कार्य किया। इस घटना ने उनकी शत्रुता को राजनैतिक स्वरूप के स्थान पर व्यक्तिगत रूप प्रदान कर दिया, जिसकी अग्नि मे दोनों जलकर भस्म हो गए। इस विवाह का मध्यकालीन भारतीय इतिहास मे बहुत महत्वपूर्ण स्थान है। यही पृथ्वीराज तृतीय और जयचंद के बीच संघर्ष का तात्कालिक कारण कहा जा सकता है।

इस घटना का इतना अधिक महत्व था कि तत्कालीन कवि चंदबरदाई ने जयचंद्र पर कड़ा आरोप लगाया है, यद्यपि उसका उल्लेख अप्रमाणित है, कि जयचंद्र ने अपने प्रतिद्वंद्वी पृथ्वीराज तृतीय को परास्त करने तथा उससे बदला लेने के लिये तुर्क सेनापति शहाबउद्दीन गोरी को पृथ्वीराज पर आक्रमण करने के लिये आमंत्रित किया।[५] चंदबरदाई के इस कथन का समर्थन करते हुए मेजर राबर्टी इसकी सत्यता पर बार बार जोर देता है।[६] चंदबरदाई के इस कथन का प्रमाण किसी अन्य समकालीन हिंदू लेखक के वर्णन मे नहीं मिलता, स्वयं मुस्लिम इतिहासकार भी इस विषय पर मौन हैं और वे किंचित् मात्र भी इस घटना की ओर संकेत नहीं करते। इन प्रमाणों की अनुपस्थिति में हम चंदबरदाई के इस आरोप को स्वीकार नहीं कर सकते। शहाबउद्दीन के पृथ्वीराज तृतीय पर आक्रमण करने का कारण जयचंद्र का निमंत्रण नहीं वरन् उस समय की राजनैतिक दुर्व्यवस्था थी, जिसने उत्तरी भारत को जर्जर और खोखला कर दिया था। तुर्कों ने तो वर्षों पहले भारत पर अपने सैनिक प्रहार प्रारंभ कर दिए थे। वे भारत मे तुर्की साम्राज्य की स्थापना चाहते थे। इस महत्वाकांक्षा की पूर्ति के लिये इससे उत्तम अवसर और क्या हो सकता था? अतः यह आवश्यक था कि शहाबउद्दीन जैसा महत्वाकांक्षी तुर्क विजेता इस अवसर से लाभ उठाता। उसके लिये पृथ्वीराज पर आक्रमण करना अनिवार्य हो गया था, क्योंकि उसे अपनी पूर्व पराजय का बदला भी लेना था। उसके लिये पृथ्वीराज तृतीय पर आक्रमण करने का स्वर्ण अवसर इससे बढ़कर और क्या हो सकता था। यद्यपि चंदबरदाई का उपर्युक्त कथन असत्य प्रतीत होता है, तो भी वह इस बात की ओर संकेत करता है कि पृथ्वीराज तृतीय और जयचंद के बीच कितनी भयंकर शत्रुता रही

५. पृथ्वीराज और संयोगिता के प्रेमविवाह के लिये देखिए—पृथ्वीराज रासो, संयोगिता स्वयंवर समय।

६. तबकात ए-नासीरी, मेजर राबर्टी कृत अंगरेजी अनुवाद, जिल्द एक पृ० ४६६, टिप्पणी तथा पृ० ४६७; टाड : ऐनल्स एंड ऐन्टीक्विटीज आफ, राजस्थान, जिल्द (१), पृ० ३०० ।

होगी। और निश्चय ही इस भयंकर शत्रुता का तात्कालिक कारण था पृथ्वीराज तृतीय और संयोगिता का प्रेमविवाह।

पृथ्वीराज और संयोगिता के विवाह की ऐतिहासिकता पर बहुत से आधुनिक इतिहासकार संदेह प्रकट करते हैं।[७] परंतु पृथ्वीराजरासो के लेखक चंदबरदाई ने पृथ्वीराज तृतीय और संयोगिता के प्रेम और फिर उनके विवाह का वर्णन विस्तारपूर्वक किया है।[८]

सौभाग्य से चंदबरदाई के उपर्युक्त कथन का उल्लेख हमें कुछ बाद की रचनाओं में भी प्राप्त होता है। सोलहवीं शताब्दी के मध्यकालीन हिंदू कवि चंद्रशेखर, जो रणथंभौर के चौहान शासक का दरबारी कवि था, ने अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक 'सुरजनचरित' में विस्तारपूर्वक इस घटना का वर्णन किया है।[९] इसी तरह अकबर के प्रसिद्ध दरबारी इतिहासकार अबुलफजल ने भी अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक 'आइन-ए-अकबरी' में पृथ्वीराज तृतीय और संयोगिता के विवाह का उल्लेख किया है।[१०] यद्यपि चंदबरदाई, चद्रशेखर तथा अबुलफजल के उल्लेखों में यत्र तत्र भिन्नता दिखलाई पड़ती है, परंतु यह स्पष्ट है कि इन तीनों के इस घटना के लिखने का एक ही उद्देश्य था और उनके मूल कथानक भी एक ही थे।

उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर हम पृथ्वीराज तृतीय और संयोगिता के प्रेम-विवाह की घटना को इस प्रकार संक्षेप में प्रस्तुत कर सकते हैं—

सयोगिता कन्नौज के गहड़वाल शासक की पुत्री थी, जो अत्यंत सुंदरी थी। पृथ्वीराज चौहान जो अजमेर का राजा था, वह भी एक अत्यंत सुंदर और पराक्रमी शासक था। भविष्य में ये दोनों एक दूसरे से प्रेम करने लगे। इसी बीच जयचंद्र ने अपनी विजय योजनाओं के बाद 'राजसूय यज्ञ' किया था। इसी शुभ अवसर पर उसने अपनी पुत्री के विवाह के लिए स्वयंवर का आयोजन किया था। इस स्वयंवर में भाग लेने के लिये दूर दूर से राजाओं राजकुमारों को बुलाया गया था। परंतु इस

७. डा० आ० एस० त्रिपाठी : हिस्ट्री आफ कन्नौज, पृ० ३२५-२६; डा० रोमा नियोगी : दी हिस्ट्री आफ दी गहड़वाल डाइनेस्टी, पृ० १०६-७।
८. पृथ्वीराज रासो : संयोगिता स्वयंवर समय।
९. एन० पी० पी० १९४६, जिल्द ३, पृ० २११-१४। परंतु चंद्रशेखर ने भूल से कन्नौज की राजकुमारी का नाम कांतिमती लिखा है।
१०. आइन-ए-अकबरी अंगरेजी अनुवाद, फ्रैंसिस ग्लैडविन, जिल्द २, पृ० १०७-८।

अवसर पर अजमेर के शासक पृथ्वीराज चौहान तथा मेवाड़ के शासक समरसिंह को उनसे शत्रुता रहने के कारण नहीं बुलाया गया था।[११] इतना ही नहीं, जयचंद्र ने इन्हें अपमानित करने के लिये इनकी मूर्तियाँ बनवाईं और उन्हें ऐसे स्थान पर रखवा दिया जिसमे आगंतुक उनके निम्नस्तर को जान सकें। परतु संयोगिता, जिसने पृथ्वीराज से विवाह करने का दृढ़ संकल्प कर लिया था, ने गुप्त रूप से पृथ्वीराज को स्वयंवर मे भाग लेने के लिये सूचना भेजी।[१२] परिणामस्वरूप पृथ्वीराज अपने कुछ विश्वासपात्र सामंतों तथा सहयोगियों के साथ कन्नौज गया और जिस समय जयचंद्र अपने 'राजसूय यज्ञ' में व्यस्त था, एकाएक उस पर आक्रमण कर दिया और स्वयंवर से संयोगिता को लेकर अजमेर की ओर भाग गया। शीघ्र ही जयचंद्र के सैनिकों ने पृथ्वीराज का पीछा किया, किंतु पृथ्वीराज के विश्वासपात्र योद्धाओं ने अपने प्रिय सम्राट् के रक्षार्थ अपने प्राण न्यौछावर कर दिए परंतु अपने स्वामी का बाल बाँका न होने दिया। पृथ्वीराज कुशलतापूर्वक अजमेर पहुँच गया और फिर उसने बड़ी धूमधाम के साथ संयोगिता से विवाह किया।

अब प्रश्न यह उठता है कि पृथ्वीराज और संयोगिता का प्रेमविवाह, जैसा कि ऊपर लिखा गया है, एक ऐतिहासिक तथ्य है अथवा महाकवि चंदबरदाई के मस्तिष्क

११. डा० आर० एस० त्रिपाठी लिखते है कि इस अवसर पर सभी राजकुमारों को बुलाया गया था परंतु पृथ्वीराज चौहान और मेवाड़ के समरसिंह ने इसमें भाग लेना अस्वीकार कर दिया।—हिस्ट्री आफ कन्नौज, पृ० ३२५। परंतु डा० त्रिपाठी अपने तर्क की पुष्टि में कोई प्रमाण नहीं देते। वास्तव में अपनी राजनैतिक प्रतिद्वन्द्विता के कारण जयचंद्र ने जानबूझकर पृथ्वीराज को इस अवसर पर नहीं बुलाया था, जिससे उसका अपमान किया जा सके।

१२. अन्यत्र डा० त्रिपाठी लिखते हैं कि जब पृथ्वीराज को नहीं बुलाया और उसकी मूर्ति को बनाकर, उसे अपमानित किया गया तो पृथ्वीराज बहुत क्रोधित हुआ और अपने अपमान का बदला लेने के लिये स्वय कन्नौज गया था।—वही पृ० १२५-२६। यदि डा० त्रिपाठी के इस अनुमान को मान लिया जाय तो यह असंभव प्रतीत होता है कि किस प्रकार कन्नौज से अजमेर इसका समाचार पहुँचा होगा और कैसे पृथ्वीराज ने शीघ्रतापूर्वक आक्रमण किया होगा। इन परिस्थितियों में ऐसा जान पड़ता है कि पृथ्वीराज के पास सूचना भेजने का उत्तरदायित्व किसी और पर न होकर स्वयं संयोगिता पर था।

उपज। स्व० डा० आर० एस० त्रिपाठी चंदबरदाई के इस कथन को स्वीकार करने मे आपत्ति करते हैं। उनका विचार है कि इस प्रेमविवाह को एक ऐतिहासिक घटना नहीं माना जा सकता, क्योंकि स्वयंवर और 'राजसूय यज्ञ' ये दोनों ऐसी घटनाएँ हैं जिनका महत्व बहुत अधिक है और यदि इसे सपन्न किया गया होता तो निश्चय ही शिलालेखों पर इसका उल्लेख मिलता। इतना ही नहीं 'रंभामंजरी', जिसका प्रमुख नायक जयचंद्र है, भी इस घटना पर मौन है। उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर यह निश्चित कहा जा सकता है कि जयचंद्र की विज श्रृंखला इतनी विस्तृत नहीं थी कि जिसके उपलक्ष्य मे इस प्रकार का उत्सव मनाया जाता, क्योंकि ये उत्सव किसी के सर्वोच्च के शासक होने के प्रतीक समझे जाते थे।[13] डा० त्रिपाठी का समर्थन करते हुए डा० रोमा नियोगी ने भी चंदबरदाई की इस प्रेमकथा को ऐतिहासिक घटना मानने से इनकार कर दिया है।[14]

डा० त्रिपाठी के प्रत्युत्तर मे डा० रामवृक्ष सिंह अपना तर्क प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं कि यह सत्य है कि 'रंभामंजरी' मे इस घटना का उल्लेख नहीं किया गया है। परंतु यहाँ इस बात को नहीं भूलना चाहिए कि उक्त पुस्तक मे जयचंद्र के शासनकाल के प्रारंभिक युग की घटनाओं को ही लेखबद्ध किया गया है, जब कि उक्त घटना जयचंद्र के शासनकाल के अंतिम दिनों मे घटित हुई थी। यही कारण है जिससे इस घटना का वर्णन हम 'रंभामजरी' मे नहीं मिलता। जहाँ तक इन घटनाओं को शिलालेखों पर अंकित न कराने का प्रश्न है, यह जयचंद्र के लिये स्वाभाविक ही था, क्योंकि कोई भी शासक अपनी अपमानपूर्ण पराजय तथा अपनी पुत्री के शत्रु द्वारा हरण की घटना को शिलालेखों मे कदापि स्थान नहीं देगा। फिर भी केवल ये दो साधन ही कन्नौज के राजा के शासनकाल को विस्तारपूर्वक बताने के लिये पर्याप्त नहीं हैं।[15]

दूसरी ओर डा० दशरथ शर्मा भी चंदबरदाई की इस घटना का समर्थन करते हुए प्रतीत होते हैं। वे लिखते हैं कि यद्यपि इस घटना का उल्लेख 'पृथ्वीराज प्रबंध', 'प्रबंध चिंतामणि', 'प्रबंधकोश', तथा 'हम्मीर महाकाव्य' में नहीं मिलता, जो चौहान नायक (पृथ्वीराज) के बारे मे उल्लेख करते हैं, फिर भी इस कथा को केवल एक प्रेमकथा अथवा कविकल्पना की उपज कहना कठिन है। डा० शर्मा अपने पक्ष में निम्नलिखित तर्क उपस्थित करते हैं—

१३. हिस्ट्री आफ कन्नौज, पृ० ३२९।
१४. दी हिस्ट्री आफ दी गहड़वाल डाइनेस्टी, पृ० १०७।
१५. दी हिस्ट्री आफ दी चाहमानाज, पृ० १७५।

१ – केवल इन पुस्तकों का इस घटना पर मौन रहना ही इसके लिए पर्याप्त प्रमाण नहीं होगा कि संयोगिता का हरण नहीं हुआ था। इसके अतिरिक्त वे पृथ्वीराज की चार प्रमुख विजयों के विषय में भी शांत हैं।

२ – इस घटना का वर्णन तीन प्राचीन और प्रमुख व्यक्तियों—अबुलफजल, चंद्रशेखर तथा चंदबरदाई से प्राप्त होता है।

३ – पृथ्वीराज रासो की भाँति पृथ्वीराज विजय में भी इसी प्रकार की एक घटना का उल्लेख मिलता है कि पृथ्वीराज एक सुंदरी, जो एक अप्सरा का अवतार थी, से अत्यधिक प्रेम करने लगे थे, यद्यपि उसका (पृथ्वीराज का) विवाह पहले कई बार हो चुका था और उसने व्यक्तिगत रूप से कभी भी अपनी प्रेयसी को नहीं देखा था।[16]

जो लोग इस घटना को कपोलकल्पित तथा असत्य मानते हैं, वे लोग इस बात पर आश्चर्य प्रकट करते हैं कि उस समय राजसूय यज्ञ तथा स्वयंवर की प्रथा न तो प्रचलित थी और न जयचंद्र का साम्राज्य इतना विशाल और उसकी विजय महान् ही थीं कि वह इसे संपन्न करता।[17] परंतु ये तर्क निराधार प्रतीत होते हैं क्योंकि प्राचीन काल से ही 'स्वयंवर' और 'राजसूय यज्ञ' का उल्लेख निरंतर मिलता है। हिंदू राजाओं के लिये यह एकमात्र प्रतिष्ठा का ही प्रतीक नहीं था वरन् यह एक धार्मिक कार्य भी समझा जाता था, जिससे वह अपने समकालीन शासकों के स्तर से ऊपर उठ जाय। कन्नौज अपने पूर्व इतिहास में समस्त भारतवर्ष की राजनैतिक शक्ति का केंद्र रह चुका था। अब उसका वह महत्व जाता रहा। संभव है कन्नौज के शासक जयचंद्र ने फिर से एक बार कन्नौज के खोए हुए संमान को प्राप्त करने का प्रयत्न किया हो, क्योंकि हिंदू तथा मुस्लिम दोनों इतिहासकारों के वर्णन से स्पष्ट है कि जयचंद्र एक शक्तिशाली तथा महत्वाकांक्षी शासक था।[18] परंतु वह अपनी योज-

१६. अर्ली चौहान डाइनेस्टीज (१९५९ ई०), पृ० ७८।

१७. हिस्ट्री आफ कन्नौज, पृ० ३२४।

१८. कन्नौज के शासक जयचंद्र की महत्वाकांक्षा और उसकी सैनिक शक्ति से हिंदू तथा मुस्लिम दोनों इतिहासकार प्रभावित थे। उन्होंने विस्तारपूर्वक तथा कहीं कहीं जयचंद्र के शौर्य और सैनिक शक्ति की अतिशयोक्तिपूर्ण प्रशंसा की है। विशेष द्रष्टव्य—डा० त्रिपाठी : हिस्ट्री आफ कन्नौज, पृ० ३२१–२२; डा० रोमा नियोगी : दी हिस्ट्री आफ दी गहड़वाल डाइनेस्टी, पृ० १७ –११०; हसन निजामी : ताज-उल-मासीर, इलियट, जिल्द २, पृ० २२३; इब्न आसीर : कामिल-उत-तवारीख, इलियट, जिल्द २, पृ० २५०–५१; मिरज फिरिश्ता : जिल्द, पृ० १७८९।

नाओं में सफल न हो सका और अपने प्रमुख प्रतिद्वंद्वी चौहानों से अपने अपमान का बदला लेने में असमर्थ रहा। फिर भी यह कोई आश्चर्य की बात नहीं कि अपनी आकांक्षाओं में असफल होने पर भी जयचंद्र ने केवल अपनी उत्तेजना को शांत करने के लिये और केवल दिखावे के लिये इस प्रकार का समारोह संपन्न किया हो।[19]

जहाँ तक स्वयंवर का प्रश्न है पूर्व मध्यकालीन भारत में भी इसके अनेक उदाहरण मिलते हैं। इसी प्रकार की एक घटना का उल्लेख ११२५ ई० में बिल्हण के विक्रमांकदेव चरित में भी मिलता है। इसके साथ ही कुछ प्रमुख जैन लेखकों से भी इस प्रथा के प्रचलित होने का प्रमाण मिलता है। हेमचंद्र सूरी के उल्लेखों से ज्ञात होता है कि गुजरात का राजा दुर्लभराज (१००८–१०२२ ई०) नादौल की चौहान राजकुमारी दुर्लभदेवी को स्वयंवर में उठा ले गया था।[20]

इसमें संदेह नहीं कि जिस घटना का वर्णन चंदबरदाई ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'पृथ्वीराज रासो' में किया है, वह अत्यंत रोचक है। उसमें यत्र तत्र अतिशयोक्ति का भी आभास मिलता है। परंतु कभी कभी ऐसी घटनाएँ मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन में सत्य होते हुए देखी जाती हैं। उदाहरण के लिये पूर्व मध्यकाल के लगभग ७२५ ई० की एक घटना को प्रस्तुत किया जा सकता है। राष्ट्रकूट परिवार का राजकुमार इंद्र चौलुक्यों की राजकुमारी भवनागा को खेड़ा में जबरदस्ती उसके विवाह मंडप से उठा ले गया था।[21] सबसे रोचक बात तो यह है कि राष्ट्रकूटों का यह परिवार चौलुक्यों का सहयोगी शासक था।[22] इन तथ्यों के आधार पर हम चंदबरदाई द्वारा लिखित बारहवीं शताब्दी के अंतिम चरण की इस घटना को निर्मूल और असत्य नहीं कह सकते। ऐसी घटनाएँ उस युग में घट सकती थीं, जिनपर आश्चर्य नहीं किया जा सकता।

प्रमुख तथा मान्य दरबारी इतिहासकार अबुल फजल ने भी इस घटना का उल्लेख अपने सुप्रसिद्ध ग्रंथ आइन-ए-अकबरी में किया है। अकबर का यह दरबारी इतिहासकार स्पष्ट शब्दों में जयचंद्र के 'राजसूय यज्ञ' और पृथ्वीराज द्वारा संयोगिता के हरण का उल्लेख करता है। अबुल फजल उच्चकोटि का इतिहासकार है। और यद्यपि उसने इस घटना के लगभग ४०० वर्ष बाद अपने ग्रंथ की रचना की थी

१९. डा० रामवृक्ष सिंह, दी हिस्ट्री दी चाहमानाज, पृ० १७५–७६।
२०. इंडियन एंटीक्वेरी ६, पृ० ११२–१४; डा० एच० सी० रे : डाइनैस्टिक हिस्ट्री आफ नार्दर्न इंडिया, जिल्द २, पृ० ९४५–४६।
२१. एपिग्राफिया इंडिका, १८, पृ० २३५ और आगे।
२२. वही, पृ० २३५ और आगे।

फिर भी उसने बड़े सोच विचार के बाद ही चदबरदाई की इस घटना का उल्लेख किया होगा। अबुल फजल के इतिहास की मान्यता को देखते हुए हम सरलता से उसकी अवहेलना नहीं कर सकते। ठीक इसी प्रकार का समर्थन हमे जामुन के राजा के इतिहास से भी प्राप्त होता है।[२३]

दूसरी ओर पृथ्वीराज विजय से हमे अप्रत्यक्ष रूप मे उक्त घटना की सत्यता का प्रमाण मिलता है। इस पुस्तक मे इस बात का उल्लेख किया गया है कि पृथ्वीराज चौहान अत्यंत सुंदर था और जब वह अपनी युवावस्था को पहुँचा तो बहुत सी राजकुमारियाँ उससे विवाह करना चाहती थीं।[२४] पृथ्वीराज विजय का यह वर्णन अप्रत्यक्ष रूप से उक्त घटना की पुष्टि करता है। इसमें संदेह नहीं कि यदि 'पृथ्वीराज विजय' के इस वर्णन को सत्य माना जाय तो उन अनेक राजकुमारियों मे जयचंद्र की पुत्री संयोगिता का समिलित होना कोई आश्चर्य की बात नहीं जो पृथ्वीराज के गुणों और सुंदरता से प्रभावित होकर उससे विवाह की कामना करने लगी थी।

पृथ्वीराज और संयोगिता के विवाह के साथ ही एक दूसरा प्रश्न भी उठाया जाता है कि यह विवाह किस वर्ष मे संपन्न हुआ था। इतिहासकारों के इस विषय पर भी विभिन्न मत हैं। प्रसिद्ध इतिहासकार वी० ए० स्मिथ इस विवाह की तिथि ११७५ ई० निश्चित करता है।[२५] परंतु ऐतिहासिक दृष्टि से अवलोकन करने पर यह तिथि असत्य प्रतीत होती है, क्योंकि ११७५ ई० मे पृथ्वीराज नहीं वरन् उसका पिता सोमेश्वर शासन कर रहा था और उस समय पृथ्वीराज तो बालक ही रहा होगा। कारण ११७८ ई० में जब वह अजमेर का शासक बनाया गया, तो उस समय भी वह अपनी अपरिपक्व अवस्था मे था।[२६] इसी प्रकार सी० वी० वैद्य ने भी भ्रमपूर्वक इस विवाह की तिथि ११८५ ई० में निश्चित की है। इस विषय पर तत्कालीन लेखकों का मौन रहना कठिनाई उपस्थित करता है। खेद है कि उस समय का कोई भी लेखक निश्चित रूप से इस विवाह की तिथि के बारे मे नहीं

२३. तबकात-ए-नासीरी, अंगरेजी अनुवाद, मेजर रावर्टी, जिल्द (१) पृ० ४६६-६७ और टिप्पणी।

२४. पृथ्वीराजविजय, जिल्द दस, १-४; शारदा : स्पीचेस ऐंड रायटिंग्ज, पृ० २११।

२५. अर्ली हिस्ट्री आफ इंडिया (तृतीय संस्करण), पृ० ३८७।

२६. दी हिस्ट्री आफ दी चाहमानाज, पृ० १६० तथा टिप्पणी।

लिखता। परंतु जब हम तत्कालीन घटनाओं और प्रमाणों का विहंगम अवलोकन करते हैं तो हम किसी एक निश्चित निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं।

पृथ्वीराज रासो का लेखक चंदबरदाई स्पष्ट शब्दों मे इस बात की व्याख्या करता है कि यह विवाह पृथ्वीराज के शासन के अंतिम चरण मे हुआ था। वह आगे यह भी लिखता है कि इस विवाह के बाद पृथ्वीराज अपनी पत्नी की सुंदरता पर इतना अधिक मोहित हो गया था कि उसके प्यार को छोड़कर किसी कार्य मे रुचि नहीं लेता था। उसका पत्नीप्रेम इतना अधिक बढ़ गया कि उसने राजमहल से बाहर निकालना ही बंद कर दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि उसका शासन शिथिल पड़ गया। चारों ओर दुर्व्यवस्था फैलने लगी। यह समय उसके लिये कठिन कसौटी का था।[२७] चंदबरदाई के उक्त कथन की पुष्टि हमे एक अन्य पुस्तक लक्ष्मीधर की विविधविध्वस से प्राप्त होती है। इस रचना से यह ज्ञात होता है कि तुर्कों के विरुद्ध अंतिम संघर्ष के समय पृथ्वीराज का मस्तिष्क विकृत और अधिक विलासी हो गया था।[२८] पृथ्वीराज अपने शासन के अंतिम दिनो मे अत्यधिक विलासी हो गया था, इसका प्रमाण हमे पुरातन प्रबंध संग्रह के पृथ्वीराजप्रबंध मे भी प्राप्त होता है। इस रचना के अनुसार पृथ्वीराज शहाबउद्दीन गोरी के अंतिम आक्रमण के कुछ ही दिन पूर्व अधिक विलासी हो गया था और वह देर तक सोता रहता था। पृथ्वीराज मे देर तक सोने की बुरी आदत इतनी अधिक पड़ गई थी कि जब उसे कोई जगाने जाता तो वह उस पर अत्यधिक क्रोधित हो उठता था।[२९]

यद्यपि उपर्युक्त ग्रंथ पृथ्वीराज और संयोगिता के विवाह की तिथि को स्पष्टतया नहीं लिखते, परतु वे अप्रत्यक्ष रूप से इस बात की ओर संकेत करते हैं कि कि यह विवाह तराईं के प्रथम युद्ध (११९१ ई०) के तुरत बाद हुआ होगा।[३०] इस तथ्य की पुष्टि हमे जामुन के इतिहास से भी प्राप्त होती हैं जिससे यह ज्ञात होता है कि पृथ्वीराज और जयचंद्र के बीच संघर्ष का कारण संयोगिता की घटना थी जो ११९१ ई० के तुरंत बाद घटी थी।[३१] यह वर्ष पृथ्वीराज के शासनकाल मे बहुत ही महत्वपूर्ण है। इसी वर्ष पृथ्वीराज ने शहाबउद्दीन गोरी के नेतृत्व में तुर्कों

२७. पृथ्वीराज रासो, समय ६२; रासो सार, पृ० ३७३ और आगे।
२८. इंडियन हिस्टारिकल क्वार्टर्ली, सितंबर १९४०, पृ० ५६१, वर्ष २३।
२९. सिंघी जैन ग्रंथमाला, जिल्द २, पृ० ८७–८८।
३०. डा० रामवृक्ष सिंह, दी हिस्ट्री आफ दी चाहमानाज, पृ० १८०।
३१. तबकात ए-नासिरी, अंगरेजी अनुवाद : मेजर रावर्टी, जिल्द, १, पृ० ४६६–६७ तथा टिप्पणी।

आक्रमणकारियों को युद्ध के खुले मैदान में बुरी तरह परास्त कर अपनी सीमा के बाहर खदेड़ दिया था। मुस्लिम सेनापति स्वयं इस युद्ध मे इतनी बुरी तरह घायल हुआ कि बड़ी कठिनाई के बाद वह युद्ध क्षेत्र से अपनी जान बचाकर भाग सका था। उसके जख्म इतने गहरे थे कि शहाब उद्-द्दीन गोरी महीनों बिस्तर पर पड़ा रहा।

अपने इस विजयोल्लास मे पृथ्वीराज अपने भावी संकट को न समझ सका। इस विजय से उसे सबक लेना चाहिए था और उसे अपने साम्राज्य को और शक्तिशाली बनाना उचित था, जिससे तुर्कों के भावी आक्रमण से वह अपनी तथा अपने देश की रक्षा कर सकता। परंतु उसका मस्तिष्क विकृत हो गया था और वह संयोगिता के प्रेम मे दीवाना हो गया। स्वयंवर से जबरदस्ती उठा लाने के बाद उसने अजमेर मे बड़ी धूमधाम के साथ संयोगिता से विवाह किया।

इस प्रकार एक ही वर्ष में अपनी दो महान् सफलताओं (तुर्कों पर विजय तथा संयोगिता से विवाह) के गर्व में पृथ्वीराज अपने कर्तव्य को भूल गया और अपनी नवविवाहिता स्त्री के साथ आनंद मनाने लगा, जिसके शोध में उसे शीघ्र ही अपने प्राणों की आहुति दे देनी पड़ी।

उपर्युक्त विवरण के आधार पर हम सरलता से निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि पृथ्वीराज और संयोगिता का विवाह एक ऐतिहासिक तथ्य है, जो ११९१ ई० अर्थात् तराईं के प्रथम युद्ध के तुरंत बाद संपन्न हुआ था।

भारतवर्ष के मध्यकालीन इतिहास की यह एक अत्यंत महत्त्वशाली घटना है। यह विवाह केवल दो राजपूत घरानों की समस्या नहीं था वरन् संपूर्ण देश की समस्या बन गया, जिसने देश के भावी भाग्य का निर्णय कर दिया। पृथ्वीराज और संयोगिता का विवाह केवल दो शासकों के बीच संघर्ष का तत्कालीन कारण ही नहीं था वरन् इससे तुर्कों को भारत पर आक्रमण करने का प्रोत्साहन भी मिला। ऐसे समय मे जब तुर्कों के घातक आक्रमण लगातार उत्तरी भारत के राज्यों पर हो रहे थे, इन दो शक्तिशाली शासकों का परम कर्तव्य था कि इस संकटकालीन स्थिति मे एक होकर विदेशियों का सामना करते। इसका उत्तरदायित्व पृथ्वीराज चौहान पर और भी अधिक था, क्योंकि निश्चय ही वह गहड़वाल शासक जयचंद्र की तुलना में अधिक शक्तिशाली था। इतना ही नहीं उसने तुर्कों की विशाल सेना को युद्ध के खुले मैदान में परास्त कर अपने शौर्य का स्पष्ट प्रमाण भी दिया था।

देश का यह दुर्भाग्य था कि पृथ्वीराज जैसा महान् योद्धा समय की गंभीरता को न समझ सका और निरर्थक आपसी झगड़े मे पड़कर अपना अमूल्य समय और शक्ति दोनों खो बैठा। संयोगिता से विवाह करने का यह भीषण परिणाम निकला कि जयचंद्र से उसकी कटुता चरम सीमा पर पहुँच गई। इस विवाह का प्रत्यक्ष प्रभाव

पृथ्वीराज पर भी पड़ा। उसके बहुत से योद्धाओं ने, जिनकी सहायता से उसने तुर्कों को पराजित किया था, अपने प्रिय सम्राट पृथ्वीराज के बचाव में गहड़वालों के विरुद्ध अपने प्राणों की बलि दे दी। पृथ्वीराज स्वयं अब विलासमय जीवन बिताने लगा, जिससे उसका शासनसूत्र शिथिल पड़ गया, उसका सैनिक बल जाता रहा और वह अपनी नवविवाहिता पत्नी के प्रेम मे इतना आसक्त हो गया कि उसे अपने देश और राज्य तक की चिंता न रही। उसके इस चारित्रिक पतन ने उसे अल्पकाल ही में इतना जर्जर कर दिया कि दूसरे वर्ष तुर्क सेनापति शहाब-उद्-ददीन ने उससे अपनी पिछली पराजय का बदला ले लिया। देखते ही देखते पृथ्वीराज का साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया और अंत में अपने प्राणों की आहुति देकर भी वह साम्राज्य की स्वतंत्रता की रक्षा न कर सका।

पृथ्वीराज संयोगिता के विवाह का ही परिणाम था कि जिस समय चौहान नरेश विदेशियों से अपने जीवन मरण के संघर्ष मे व्यस्त था, जयचंद्र केवल दूर से तमाशा देखता रहा। जहाँ जयचंद्र को अपने आपसी वैमनस्य को छोड़कर अपने भाई-बंधुओं को सहयोग देना चाहिए था वहाँ वह कन्नौज में बैठकर पृथ्वीराज की पराजय के समाचार की प्रतीक्षा कर रहा था। उसके किसी भी सहयोगी शासक ने पृथ्वीराज का इस संकट में साथ नहीं दिया। पृथ्वीराज की पराजय और उसकी मृत्यु का समाचार जयचंद्र के लिये हर्ष का विषय था, जैसा कि पुरातन प्रबंध संग्रह के जयचंद्र प्रबंध उल्लेख मे मिलता है। पृथ्वीराज की पराजय और मृत्यु के समाचार से जयचंद्र ने अपने राज्य मे खूब खुशियाँ मनाईं।[३२] उसे क्या मालूम था कि उसकी ये खुशियाँ अल्पकालीन हैं, जिसका भुगतान उसे भविष्य में शीघ्र करना पड़ेगा। अपनी आशा के विपरीत जयचंद्र दूसरे ही वर्ष अर्थात् ११९३ ई० मे तुर्कों के आक्रमण का स्वयं शिकार बना और उसके सारे मनसूबे तितर-बितर हो गए। पृथ्वीराज की भाँति वह भी चंदावर के प्रसिद्ध युद्ध में पराजित हो गया और अंत मे उसे भी अपने प्राणों से हाथ धोना पड़ा।

इस प्रकार उत्तरी भारत के दो प्रमुख और शक्तिशाली राज्य, जो देश की रक्षा का भार सँभाल सकते थे, एक एक करके तुर्क दासत्व का कारण बने। जो राजनैतिक परिवर्तन देश में उस समय आए उसके प्रकोप से हम आज तक ग्रस्त हैं और अभी तक हम अपने को संभालने मे असमर्थ रहे हैं। इन सभी का उत्तरदायित्व बहुत कुछ पृथ्वीराज और जयचंद पर हैं। इस पूरी राजनैतिक उथल-पुथल में पृथ्वीराज और संयोगिता के प्रेम विवाह का प्रमुख स्थान था।

*

३२. सिंघी जैन ग्रंथमाला, जिल्द २, पृ० ८६।

शुद्ध खड़ी बोली का एक प्राचीन रूप

गोपाल राय

भाषा एक सतत परिवर्तनशील तत्व है। खड़ी बोली का जो रूप हम आज देख रहे हैं वह सौ वर्ष पूर्व वैसा ही नहीं था और सौ वर्ष बाद वह आज से भिन्न नहीं हो जायगा, ऐसा नहीं कहा जा सकता। भाषा की यह परिवर्तनशीलता अध्ययन का रोचक विषय है। प्रस्तुत निबंध मे हम लगभग एक शतक पूर्व की खड़ी बोली के स्वरूप का विवेचन कर रहे हैं। जिस पुस्तक को हम इस विवेचन का आधार बना रहे हैं, वह है पं० गौरीदत्त रचित 'देवरानी जेठानी की कहानी'। यह पुस्तक प्रथम बार सन् १८७० ई० मे जिआई छापखाना मेरठ से प्रकाशित हुई थी। पं० गौरीदत्त मेरठ जिले के निवासी थे। उन्होंने उक्त पुस्तक की भूमिका मे लिखा है—'इस पुस्तक मे स्त्रियों की ही बोलचाल और वही शब्द जहाँ जैसा आशय है लिखे हैं और यह बोली है जो इस जिले के बनियों के कुटुंब में स्त्री पुरुष वा लड़केबाले बोलते चालते हैं संस्कृत के बहुत शब्द और पुस्तकों जैसे इसलिये नहीं लिखे कि न कोई चित से पढ़ता है और न सुनता है।'

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि 'देवरानी जेठानी की कहानी' उस भाषा मे लिखी गई है जो १८७० ई० के आसपास मेरठ जिले मे प्रयुक्त होती थी। खड़ी बोली मूलतः मेरठ जिले के आस पास की भाषा है। अतः खड़ी बोली के मूल रूप को जानने मे लिये 'देवरानी जेठानी की कहानी' का अध्ययन महत्वपूर्ण है। यह एक उल्लेखनीय तथ्य है कि प्राचीन खड़ी बोली गद्य के उदाहरण तो अनेक मिलते हैं, पर मेरठ जिले मे प्रयुक्त खड़ी बोली के शुद्ध रूप के नमूने प्रायः नहीं मिलते। प्रस्तुत निबंध में इस भाषा की अंतःरचना का विश्लेषण किया जा रहा है। लिखित भाषा के स्वरूपविश्लेषण मे जिन बातो का विशेष रूप से ध्यान रखना आवश्यक है उनमें प्रमुख हैं शब्द, वाक्यरचना एवं लिपि। शब्द अनेक प्रकार के होते हैं, यथा संज्ञा, सर्वनाम, क्रिया, विशेषण, अव्यय आदि। वाक्यरचना मे विभक्ति, वचन, लिंग, क्रियारूप, विरामचिह्न आदि के प्रयोग पर ध्यान देना होता है। लिपि की दृष्टि से वर्तनी विचारणीय है। यहाँ इन्हीं दृष्टियों से 'देवरानी जेठानी की कहानी' की भाषा का विवेचन करने का प्रयास है।

१. अब यह पुस्तक ग्रंथ निकेतन, राजीघाट, पटना से प्रकाशित है।—लेखक

'देवरानी जेठानी की कहानी' की भाषा उपर्युक्त सभी दृष्टियों से आधुनिक हिंदी से कुछ विशिष्ट है। शब्दप्रयोग की दृष्टि से विचार करने पर दो बातें सामने आती हैं। प्रथम, संस्कृत शब्दों का प्रयोग इसमें नहीं के बराबर है, जबकि आधुनिक हिंदी में तत्सम शब्दों का अनुपात बहुत अधिक होता है। द्वितीय, इसमें स्थानीय शब्दों के प्रयोग अत्यधिक हुए है, जो परिनिष्ठित हिंदी में स्वीकार्य नहीं हैं। उदाहरणार्थ—**गिर्वी पाते** की भी उसे **बहुतेरी** आमदनी थी। मन **उछट** जाता। **उचापत** उठने लगी। ईश्वर ने **उपरातली** दो लड़के दिए। उन्होंने उसका **टेवा** माँगा है। वहाँ से **कहलावत** आई। **बगड़-पड़ोसन** सब **इकट्ठी** हो गई। **बेअर बानियों** में धूम पड़ गई। वह भी **लगावा बझावा** थी। थोड़े दिन **पीछे**। **नून जियादह** कर देती। मेरी सास **दोजगन** हैं। **अबके** वर्ष लोग पचास हजार रुपए का **भरम** करने लगे। जब **पर्च** जायगा। **व्याज** दे रखे थे। **रूस** के अपने घर चली गई।

उपर्युक्त वाक्यखंडों में काले टाइप में मुद्रित शब्द आधुनिक परिनिष्ठित हिंदी में स्वीकृत नहीं। इस तरह के और भी अनेक शब्द जैसे **गडूलना**, **चुप चोटटी छूछक**, **गुजरान**, **खिचड़ी**, **दसूठन** **चौबारा**, **जुदाजोखा**, **विकालत**, **पिंडोल**, **ब्यालू**, **नित**, **बहल**, **बेर विषवाद**, **सासू** आदि इस पुस्तक में स्थान स्थान पर आए हैं। इन शब्दों के बहुल प्रयोग के कारण 'देवरानी जेठानी की कहानी' की भाषा आधुनिक हिंदी से बहुत अलग छूटी हुई प्रतीत होती है।

क्रियापदों के प्रयोग की दृष्टि से भी विवेच्य भाषा आधुनिक हिंदी से बहुत भिन्न है। क्रियापदों के प्रयोग में भी दो बातें बहुत स्पष्ट रूप में दिखाई पड़ती हैं। १—इसमें प्रयुक्त कुछ क्रियाएँ ऐसी हैं जो आज उस अर्थ और रूप में अप्रचलित हो गई हैं। यथा—मुँह **फक्क पड़** रहे (फक हो गए); वहाँ **तलाबेली पड़ी** (बेचैनी हुई); बहु **रोटियें करती** (रोटियाँ बनाती), कुए में **गेर दूँगा** (गाड़ दूँगा)† रात को पूरी पिराबठा और तरकारी **कर** (बना) लिए **करे** (करती) थी, दवा दी कुछ आराम **पड़ा** (हुआ), मेरे पीछे **फजीता होगा** (फजीहत होगी); सास **उठावने उठाने लगी** और **बोल कबूल करने** (मनौती करने) लगी, और कोई स्याना दीवाना घर में नहीं **बढ़ने** (घुसने)। पावें बहुत दिन में पकवान **बस जा हैं** (बासी हो जाते हैं)।

उपर्युक्त उदाहरणों में काले अक्षरों में मुद्रित क्रियारूप, जो विवेच्य पुस्तक में बहुलता से पाए जाते हैं, आधुनिक हिंदी में बिलकुल अप्रचलित हो गए हैं।

† गेरना क्रिया के अर्थ होते हैं गिराना, बखेरना, फेंकना आदि न कि गाड़ना। —संपादक।

'देवरानी जेठानी की कहानी' में प्रयुक्त क्रियापदों के संबंध मे दूसरी उल्लेख-नीय बात यह है कि उनके रूप आधुनिक हिंदी में बिल्कुल बदल गए हैं। उदाहरणार्थ, उसकी मा आई **देखे** (देखा) तो धरती पर पड़ा **सोवे** (सोता) है, कुछ न कुछ करता **रहे** (रहता) था, और **कहे** (कहती) थी, पाँच सात लौडिएँ उसके घर जाया **करें** (करती) हैं, किरपी के ताऊ गाड़ी मे बैठे **आवे** थे, वह **पूछे थे,** देवरानी को दोनों वक्त चूला फूँकना **पड़े** था, जिनके नसीब खोटे **हो हैं** उनके बेटी **हो हैं**; घरवाली से कह दिया कि **घी** को ताके रख **छोड़ियो** और बहु की खिछड़ी या दाल मे डाल दिया **करियो** (करना), खांड के लड्डू बना **लीजो** (लेना), मै **जानूँ** (जानता) हूँ; वह भी **आन** पहुँचे।

उपर्युक्त उदाहरणों मे काले अक्षरों मे मुद्रित क्रिया रूप आधुनिक हिंदी से लुप्त हो चुके है और उनके स्थान पर कोष्ठांतर्गत रूप प्रचलित हो गए हैं।

विभक्तिप्रयोग की दृष्टि से भी 'देवरानी जेठानी की कहानी' की भाषा आधुनिक हिंदी से भिन्न है। उदाहरणार्थ, सर्व सुख **नाम** (नामक) एक अग्रवाल बनियाँ था; परमेश्वर का दिया **उसके** (उसे) सब कुछ था; कहने लगा कि आज दिन **से** (मे) क्यों आये; मामाजी से मिलने **गुड़गाँवे** (गुड़गाँव) गया था; बाबू जी की बदली अंबाले **की** (मे) हो गई, **उसकू** (उसको) इस बात का बड़ा ध्यान रहता; दौलत राम और उसका बाप रोटी खाने **को** (के लिये) आते; **जिसपे** (जिसको) जैसी आती होगी वैसी करेगी; खोंचा सिर **पै** (पर) लिये; अड़ोसी पड़ोसी सब **इस्से** (इससे) राजी थे।

उपर्युक्त उदाहरणों मे काले अक्षरों मे मुद्रित क्रियारूप आधुनिक हिंदी मे प्रयुक्त नहीं होते। उनके स्थान पर कोष्टकांतर्गत रूप प्रचलित हैं।

विवेच्य पुस्तक की भाषा मे वचनप्रयोग भी आधुनिक हिंदी से कुछ भिन्न हैं। यथा, **लौंडियें** (लौडियाँ) उसके घर जाया करे हैं; मोटी मोटी **रोटियें** (रोटियां) करती, जो ज्ञानवान **लड़कियें** (लड़कियाँ) हैं।

इसी प्रकार 'देवरानी जेठानी की कहानी' में पूर्वकालिक क्रियाओं के रूप भी थोड़े भिन्न हैं, यथा—छोटे लाल रोटी खा **के** (कर) दफ्तर चले जाते; राजी खुशी कह **के** (कर) बोला; बहू के सिखाए मे आ **के** (कर)।

वर्तनी की दृष्टि से भी 'देवरानी जेठानी की कहानी' की भाषा आधुनिक हिंदी से भिन्न है। उदाहरणतः

सच (सच); **अड़ौसी पड़ौसी** (अड़ोसी पड़ोसी); **इस्से** (इससे); **पुन्य** (पुण्य); **बहु** (बहू); **इखट्टी** (इकट्ठी); **औसर** (अवसर);

तर्फ (तरफ); **न्हा धोके** (नहा धोकर); **मालूम** (मालूम); **वृत** (व्रत); **जूंही** (ज्योंही) आदि।

'देवरानी जेठानी की कहानी' की वर्तनी को ध्यान से देखने पर ज्ञात होता है कि इसे उच्चारणानुरूप रखने का विशेष प्रयास किया गया है। चंद्रबिंदु के प्रयोग में यह बात स्पष्टतः लक्षित होती है। आधुनिक हिंदी में जहाँ उच्चारण की दृष्टि से चंद्रबिंदु का प्रयोग होना चाहिए वहाँ इसका प्रयोग नहीं होता। उदाहरणार्थ—**में, लड़कों, मैंने, कहेंगे** में उच्चारण की दृष्टि से चंद्रबिंदु का प्रयोग उचित है, पर आधुनिक हिंदी में ऐसे शब्दों में चंद्रबिंदु के स्थान पर अनुस्वार का ही प्रयोग होता है। इसके विपरीत 'देवरानी जेठानी की कहानी' में इस प्रकार के शब्दों में भी चंद्रबिंदु का ही प्रयोग किया गया है।

विराम चिह्नों का प्रयोग नहीं के बराबर है। पुस्तक में कहीं भी पूर्णविराम, अर्धविराम, कोलन, सेमीकोलन, पड़ी पाई आदि का प्रयोग नहीं हुआ है। पुस्तक में कहीं भी अनुच्छेद परिवर्तन नहीं दिखाई पड़ता। कहीं - कहीं अनुच्छेद बदलने के लिये खड़ी या पड़ी पाई का प्रयोग मिलता है।

इस अध्ययन से स्पष्ट है कि 'देवरानी जेठानी की कहानी' हिंदी के अविकसित गद्य का उदाहरण प्रस्तुत करती है। यही गद्य आज संस्कृत और अंगरेजी गद्य की विशेषताओं से समन्वित होकर उपन्यास, कहानी, निबंध आलोचना एवं उपयोगी तथा वैज्ञानिक साहित्य का सफल माध्यम बन रहा है। भविष्य में विभिन्न भारतीय भाषाओं के संपर्क से हिंदी गद्य का रूप कुछ और बदल सकता है, यह असंभव नहीं। यह ग्रहणशक्ति हिंदी भाषा की सबसे बड़ी विशेषता है।

*

जायसी की रचनाएँ और उनका नामकरण

शहाब सरमदी

•

यों तो जायसी की रचनाओं की संख्या इक्कीस तक पहुँच चुकी है[1] परंतु शोध की दृष्टि से उनकी चौदह रचनाएँ ही उल्लेखनीय हैं[2] इनमे भी कुछ ऐसी हैं जहाँ रचना एक ही, केवल नाम दो हैं। जैसे चित्र रेखा (चंपावती)[3], महरी-बाईसी (कहरानामा), 'मुकहरानामा' (कुम्हरानामा) आदि। इस तरह कुल संख्या १४ से भी कम ठहरती है। इनमे जहाँ तक मेरी जानकारी है पद्मावत, अखरावट, आखिरी कलाम, चित्ररेखा, कहरानामा व मसलानामा प्रकाशित हो चुकी हैं। यही उनके प्रतिनिधि ग्रंथ समझे जाते हैं और इन्हीं पर शोधपूर्ण एवं आलोचनात्मक कार्य भी हुआ है।

इस कार्य के प्रारंभिक प्रयास मे नेतृत्व के लिये यदि बधाई के पात्र हैं तो वे डाक्टर ग्रियरसन एवं उनके योग्य सहयोगी महामहोपाध्याय पं० सुधाकर द्विवेदी हैं। उन्होने पद्मावत की एक प्रमाणित प्रति प्रस्तुत करनी चाही, किंतु पचीसवें खंड तक ही पहुँचे थे कि पंडित जी का देहांत हो गया और यह काम आगे न बढ़ सका। उनके पश्चात् आचार्य रामचंद्र जी शुक्ल ने जायसीग्रंथावली का संपादन किया। एक ग्रंथावली डा० माताप्रसाद गुप्त ने हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर प्रकाशित की। उन्होने पद्मावत का भी एक महत्वपूर्ण संस्करण निकाला। डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने भी एक ऐसा ही संस्करण हमे दिया। इनके अतिरिक्त दूसरे विद्वानों ने भी जायसी साहित्य पर विशेष ध्यान दिया। कई और भी कृतियाँ इस विषय पर हमारे समक्ष आ चुकी हैं। विवेचनात्मक तथा आलोचनात्मक दृष्टिकोण से भी इस दिशा मे पर्याप्त रूप से कार्य हुए हैं और हो रहे हैं। मैं समझता हूँ जायसी साहित्य पर हिंदी के क्षेत्र मे लगभग उतनी ही लगन से कार्य हुआ है जितना उर्दू मे

१. नागरीप्रचारिणी पत्रिका, १९१७, पृ० ५७।

२. कबाएफ-ए महमदीया (कलमी) जिसमें 'चहारदा किताब' (चौदह किताबों) का प्रमाण मिलता है।

३. अमरेश जी द्वारा संपादित कहरानामा–मसलानामा, पृ० १०।

गालिब पर। फिर भी दो-एक बिलकुल ही स्थूल तत्वों पर भी अब तक कम ही मनन होसका है, जैसे एक जायसी का जीवनचरित्र ही है। हम उनके निजी जीवन के संबंध में अपेक्षाकृत कम ही जानते हैं। इसी प्रकार उनकी कृतियों के नाम हैं। ये भी कुछ के कुछ हो गए हैं।

पद्मावत को हिंदी साहित्य का जगमगाता हीरा कहा गया है।[४] 'अखरावट' को भी प्रतिनिधि ग्रंथ समझा जाता है। परंतु इन ग्रंथों के नाम जो हमने प्रचलित कर दिए हैं, वे वह नहीं हैं जो स्वयं जायसी ने रखे थे।

जायसी काल तक ईरान एवं हिंदुस्तान में जितने काव्य मसनवी शैली में लिखे गए उनका नामकरण या तो नायक नायिका के आधार पर किया गया, जैसे--- 'वामिक अज़रा', 'यूसुफ़ ज़ुलेखा', 'लैला मजनूँ', 'दवल रानी खिज़र खाँ', 'चंदायन', 'मृगावती'[५] आदि या शाहनामा और सिकंदरनामा के समान ही 'चक्कीनामा' 'खुशनामा' 'इरशादनामा', आदि। ऐसी कृतिया कम ही थीं, जिनमें 'हफ्त पैकर', 'नुह सिपह' और 'नौ सिरहार' जैसे नाम दिए गए हो। जायसी को इनमें शास्त्रीय पक्ष ही में रुचि थी, अतएव उनकी प्रत्येक रचना या तो 'वती' के आधार पर है या 'नामा' के।[६] अतः पद्मावत का नाम उन्होंने पद्मावती रखा था।[७] इसका प्रमाण इस ग्रंथ की नायिका का नाम ही है। पद्मावती को बार बार पद्मावति इसलिये कहना पड़ा कि चौपाई छंद में एक सात मात्रिक दीर्घांत शब्द की खपत खींच तानकर ही हो सकती थी। 'नागमती' षट्-मात्रिक शब्द है, इसलिये उसे हर तरह खपाया जा सकता था। नागमती को नागमति कहीं नहीं कहा गया।

यह जान पड़ता है कि फारसी लिपि में 'पद्मावति' और पद्मावत' एक ही तरह लिखा जाता है। इस भाषा में किसी शब्द के अंतिम वर्ण को स्वरित किया भी नहीं जाता। पद्मावत की ख्याति अकबर युग में ही जगल के पुष्पसौरभ के समान व्याप्त होने लगी थी।[८] शाहजहाँ काल आते-आते यह प्रसिद्धि सारे भारत में फैल गई। ऐसा लगता है कि पांडुलिपि तैयार करने में 'पद्मावती' पहिले 'पद्मावति'

४. डा० वासुदेवशरण अग्रवाल द्वारा संपादित पद्मावत, द्वितीय संस्करण, पृ० ७

५. लीलावती और रत्नावली जैसे नामों के ग्रंथ हमारे यहाँ पहले से ही उपलब्ध थे।

६. कहरानामा-मसलानामा, पृ० २१।

७. डा० ग्रियर्सन ने भी पद्मावति और शेरिफ ने पद्मावती नाम रखा है।

८. देखिए अबुल फजल की 'आईन-ए-अकबरी'।

हुआ फिर 'पद्मावत'। यह हस्तलेखकों की कारीगरी मालूम होती है। उन्होंने नायिका का नाम हर जगह पद्मावत ही पढ़ा और वही ग्रंथ का नाम भी स्थापित कर दिया। इसी तरह 'अखरावटी' 'अखरावट' हो गया, अपितु तुक मिलानेवालों ने उसे पद्मावत से मिला कर 'अखरावत' भी कर दिया, यद्यपि जायसी ने इस ग्रंथ का नाम स्पष्टरूप से बता दिया था।

खैर, यह तो हुआ जो कुछ हुआ, इससे कुछ विशेष उलझाव पैदा नहीं हुआ। हाँ, कहने की बात अवश्य रह गई कि जो ग्रंथ जायसी के नाम के रक्षक हैं हम उन्हीं के नामों की सुरक्षा न कर सके कहरानामा को 'महरी बाइसी' कर देना जायसी के किए पर पानी फेर देना है; इसलिये कि उनके इस सुडौल गीत-काव्य में २२ नहीं २५ छंद हैं।[९] दूसरे यह गीत कहार को आधार बनाकर लिखा गया है। हमें आनेवाली पीढ़ी को जायसी जैसे कवि के इक्कीस जीते जागते पदों से वंचित कर देने का कोई अधिकार नहीं। हम इसके अधिकारी नहीं हैं कि इस विषय में कोई मनमानी कर सकें। कहार इस काव्य का एकलौता व अछूता पात्र है। इसलिये हम 'कहरानामा' को उसके असली नाम 'कहारानामा' पर तो व्यवस्थित कर सकते थे, लेकिन महरी बाईसी नहीं कर सकते। ऐसा करना इस रचना के मूल उद्देश्य पर धूल डालना होगा।

इसी तरह उनका एक और मसनवी-काव्य पहली बार, 'मसलानामा' के नाम से छपा है। इस नाम को इस प्रकार समझा गया है:

'हो सकता है मसला शब्द उन्हीं सूफी संतों की देन हो। क्योंकि इसके पूर्व 'मसला' नाम की कोई वस्तु हमारे देश मे नहीं थी। यह शब्द मिस्ल से बना है। मिस्ल का अर्थ है 'भाँति', 'तरह'। यह अरबी भाषा का शब्द है जिससे अन्य शब्दों की व्युत्पत्ति हुई—

'मिस्ल > मसलन > मिसाल > मसल > मसला

'मिस्ल' शब्द से निकला हुआ 'मसल' शब्द बाद में 'मसला' बन गया।'[१०]

'मसल' और 'मसला' को एक ही शब्द अर्थात् 'मिस्ल' से निकला हुआ समझना ठीक नहीं। अरबी में 'मस्ल' और 'मसअला' या 'मसला' दो बिलकुल अलग अलग शब्द हैं। पहले का शाब्दिक अर्थ है—किसी को इस तरह सजा देना कि देखनेवालों को इबरत हो और दूसरे (मसला) का अर्थ है 'सवाल' समस्या आदि।

९. कहरानामा—मसलानामा, पृ० ६०।
१०. वही, पृ० ७०–७१।

'मक्ल' से एक लफ्ज 'मसल' बना है, जिससे कथा, कथानक, कहावत, मिसाल, रूपक आदि का बोध होता है।' अरबी बोलचाल में 'मसल-ए-सायर' प्रचलित कहावत होती है। इसी प्रकार अवधी में 'मसल-मासहूर' बोलते हैं। 'मसल तो मसल' कुछ लोगों का तकिया कलाम भी सुनने मे आया है। किंतु 'मेहर-मसलवा' अवधी में औरतों की समस्याओं को कहा जाता है। यहां मसलवा 'मिस्ल' या 'मसल' का नहीं अपितु 'मसअला' का अपभ्रंश है।

ऐसी सूरत मे जो अवधी को अपनी मातृभाषा की तरह जानते हैं और जायसी को पढ़ा और कढा दोनों मानते हैं उनको सुझाने की जरूरत नहीं कि अपनी इस रचना को, जिसमें उन्होंने आदि अंत मात्र कहावतों के सहारे जिंदगी के गहनतम राजों को ही व्यक्त कर दिया है, मसलानामा नहीं मसलनामा नाम दिया होगा। इसलिये जब तक कोई पर्याप्त प्रमाण न मिल जाय यही समझना उचित होगा कि हम मसलानामा को मसलानामा समझ रहे हैं।

अब आइए उनकी उस रचना पर जिसे आखिरी या 'आखिरी कलाम'[11] नाम दिया गया है और आखिरी को 'आखिरत' शब्द से उलझाकर और 'कयामत के दिनों का वर्णन इसका विषय मानकर यह भी कल्पना कर ली गई है कि इसमें मुसलमानी धर्म के एक अंग का प्रचार है।' यह भी आम धारणा है कि यह निम्न कोटि का काव्य है।

ये सारी गलतफहमियाँ इसलिये फैलीं और फैल रही हैं कि हमने इस मसनवी के सही नाम और उसमें वर्णित सामग्री पर जितना चाहिए था उतना ध्यान नहीं दिया। जायसी ग्रंथावली[12] के वक्तव्य में शुक्ल जी का यह कथन है :

'उनका एक और ग्रंथ आखिरी कलाम फारसी लिपि में बहुत पुराना छपा हुआ हाल मे मिला।'

यह सन् १९३५ के आसपास की बात है। तब से अब तक न जाने कैसे इस ओर हमारी नजर ही नहीं गई कि कहीं फारसी से देवनागरी लिपि में आते हुए या किसी और कारण से इस ग्रंथ का नाम तो नहीं बदल गया और अगर नहीं बदला तो आखिरी अथवा आखिरी से समझा क्या जाय? यह ग्रंथ जायसी की अंतिम रचना तो नहीं कि इसे उनका आखिरी कलाम कहा जाय। इसका रचनाकाल ९३६ है, पद्मावत का

११. 'मलिक मोहम्मद जायसी', सैयद कल्बे मुस्तफा, पृ० ८३।
१२. जायसी-ग्रंथावली, द्वि० सं०; वक्तव्य, पृ० ७।

६४७,[13] और चित्ररेखा का ६६४ हिज्री है। फिर भी यदि यह विकल्प ही किया जाय कि इस काव्य का विषय चूँकि कयामत के दिन का वर्णन था इसलिये इसका नाम 'आखिरत-कलाम' रहा होगा जिसका अपभ्रंश आखिरी < आखिरी कलाम हो गया, तो हमें यह भी मानकर चलना पड़ेगा कि जायसी अरबी नहीं जानते थे और वह जुबान के मामले में समझौता भी कर सकते थे। मगर ये दोनों बातें अवास्तविक हैं। हमें दिल से विश्वास है कि वे अरबी का भलीभाँति ज्ञान रखते थे और हम यह भी मानते हैं कि जहाँ उन्होंने अपनी 'भाखा' के ठेठपन को मामूली ठेस भी नहीं पहुँचने दी वहाँ किसी शब्द का चाहे वह किसी भाषा का हो, गलत इस्तेमाल भी नहीं किया। आखिरत का यह अर्थहीन प्रयोग, यही नहीं कि उनकी भाषा नीति के विरुद्ध था, अवधी बोलचाल से भी बिलकुल बे मेल था। फिर जायसी जैसे कलाकार और काव्य को नखशिख सँवारनेवाला, जिसने अपनी इस मसनवी में भी खुदा को 'गोसाईं', रसूल को 'दीनदयाल', दीन को 'धरम', मोमिन को 'सिद्ध', आलिम को 'पंडित', आसमानी किताबों को 'वेदपुराण' लामकान को 'अंतंहंत', गैब की आवाज को 'नाद', नजात को 'निस्तार', मीजान को 'तखरी', जलवा को 'चमत्कार' और कयामत को प्रलय ही कहा हो, वह शब्दों की इस देशी बिरादरी में आखिरत जैसे अरबी के शब्द को टाट भीतर कैसे समझ सकता था?

हमारी समझ में तो यह आता है कि अपने इस ग्रंथ को उन्होंने 'आखरी कलाम'[14] नाम दिया और बयान-ए-किताब वाले बाब में यह स्पष्ट भी कर दिया कि वे उसे यह नाम दे रहे हैं। उनकी चौपाई है -

> नौ सै बरिस जौ भए
> तब एहि कथा क 'आखर' कहे

'हिज्री वर्ष ६३६ था जब मैंने इस कथा के आखर कहे'

कथा को अगर कहानी समझा जाय, यद्यपि इस मसनवी में कहानी की तरह कोई कहानी नहीं कही गई तो आखर से क्या समझा जाय? 'आखर' संस्कृत अक्षर का देशी रूप है। हमारे यहा इस शब्द का रहस्य बहुत अथाह रहा है। इसका शाब्दिक अर्थ जैसा सब जानते हैं क्षर न हो सकनेवाला या अमिट है। इसी से 'शब्द', 'स्वर', 'नाद', 'ब्रह्म', 'शिव' एवं 'विष्णु' को भी 'आखर' कहा गया।

१३. चित्ररेखा, फोटोकापी।
१४. '-कलाम और मलफूज कलाम' सूफी शब्दावलि है। आखिरी कलाम और मलफूज कलाम एक प्रकार से एक दूसरे के पर्याय हैं।

आकाश भी 'आखर' है। 'तपस्या' व 'मोक्ष' भी आखर हैं। गोस्वामी जी फरमाते हैं—

अनमिल आखर, अरथ न जापू
प्रकट प्रभाव महेश परतापू (बालकांड)

आखर और भेद जन्म जन्म के साथी हैं। जायसी के कलाम में भी आखर शब्द जहाँ जहाँ आया है, कहीं भी भेद से खाली नहीं।[१५] पद्मावत में जहाँ तक मेरी नजर है यह शब्द तीन ही जगह आया है—

१. तब चंदन आखर हिय लिखे—(१६५-३)
२. बुझहिं न ते आखर पर जरे—(२००-२)
३. हिए जो आखर तुम्ह लिखे—(२२४-६)

उपर्युक्त पंक्तियों में हर जगह आखर शब्द अति रहस्यमय है, यह बताने की आवश्यकता नहीं।

इसी प्रकार जायसी अखरावट (अखरावटी) के नामकरण का कारण बताते हुए कहते हैं कि—

कहौं सो ज्ञान ककहराछ, सब आखर मंह लेखि
पंडित पढ़ अखरावटी, टूटा जोरहिं देखि।

तुलसीदास जी ने 'अनमिल आखर' कहा था। जायसी कहते हैं कि 'आखरों के ओट (अखराओटी)' में ज्ञान की बातें कह रहा हूँ कि जानने बूझने वाले टूटी कड़ियों का जोड़कर बात पूरी कर सकें।

आखर क्या है जायसी ने इसकी भी तशरीह कर दी है :—

आखर, सुर नहिं बोल अकारा,
अकथ कथा का कहौं बिचारा।

अर्थात् आखर या स्वर मुँह से आवाज निकालना नहीं, इनकी कहानी अकथनीय है। सोच सोच कर क्या कहा जाय।

जायसी अकथ कथा का भेद बताते हुए कहते हैं—

आपुहिं कागद, आपु मसि, आपुहिं लेखनहार,
आपुहिं लिखिनी, आखर आपुहिं पंडित अपार

१५. जायसी ग्रंथावली, आचार्य रामचंद्र शुक्ल, पृ० १४१।

अर्थात् आपही कागज, आपही रोशनाई, आपही लिखनेवाला
आपही कलम, आपही आखर और आपही उनका अपार पंडित।

सारांश यह है कि 'वह' सब कुछ है और आखर भी। यह है आखर की महिमा। यही आखर जायसी की दोनों कृतियों का विषय है। अखरावटी में आखर की ओट से (अबजद के पर्दे में) बातें कही गई हैं और आखरी कलाम में इस ओट को हटा कर, वहाँ आखर 'हर्फ' है—'मानी' उसमें छुपा हुआ है। यहाँ अर्थ प्रकट हुआ तो हर्फ ऐन-ए-मानी (निरपेक्ष अर्थ) बन गया। यह बड़ी ऊँची, बहुत ही गहरी सूफी कल्पना है। रूमी फरमाते हैं :

हर्फ ज़र्फ़ आमद दरो-मानी चु आब
बह्र ए मानी इन्दहू उन्मुल किताब।

अर्थात् हर्फ़ वह बर्तन है जिसमें पानी पानी की तरह भरा हुआ है। वही पानी समुंदर बनकर उम्मुल किताब में है।

जायसी कहते हैं :

अलिफ एक, अल्लह बड़ सोई
दाल दीन दुनियाँ सब कोई
मीम महम्मद, प्रीति पियारा
तिनि आखर यह अरथ बिचारा

जायसी का 'आखर' और 'अरथ' और रूमी का 'हर्फ' और 'मानी' एक ही हैं। संस्कृत में अक्षर <आखर से वर्ण का अर्थ भी निकलता है। वर्ण, अथवा रंग, बदल सकता है। अरबी में हर्फ बदलती हुई हालत को भी कहते हैं[१६] और 'मानी' हकीकत को, रूहानियत को और इनके अतिरिक्त संसार की हर वस्तु को, चुनांचे 'इल्मे मानी = संसार की प्रत्येक वस्तु का ज्ञान, आलम-ए-मानी = आलम-ए-रूहानियत और सूरत-ए-बेमानी = वह सूरत जिसकी कोई हकीकत न हो।

वहदतुलवजूद के दर्शन के अनुसार 'ज़ात' और सिफ़ात के रहस्य को 'मानी' और 'हर्फ' (अर्थ और शब्द) के इसी परस्पर संबंध को माध्यम बनाकर समझा समझाया गया है। उदाहरणार्थ :

१६. बाज़ीच ए कुफ्र-ो दीं ब तिफलाँ बिस्पार
बुगज़र ज़े ख़ुदा हम कि ख़ुदा हम हर्फ़े-स्त।
अर्थात् धर्म अधर्म की बातें बच्चों का खिलवाड़ है परम सत्य तक पहुँचना है तो ख़ुदा के मात्र नाम से भी गुज़रजा इसलिये कि ख़ुदा भी केवल हर्फ है।

चूँ अलिफ गर तू मुजर्रद मीशवी
अंदरीं रह मर्द-ए मुफ़रद मीशवी। (रूमी)

अर्थात् तू अलिफ जैसा बेलाग हो जा तो इस रास्ते में तेरा कोई जवाब न हो: 'अबजदनामा', 'इलाहीनामा', 'अताईनामा', 'मेहमूदनामा' जैसी मसनवियाँ इसी लक्ष्य को लेकर लिखी गई। अखरावटी भी ऐसी ही एक मसनवी है:

खे खाविन्द, वो नाहि है न्यारा,
सो न देख तू दसों द्वारा।

यह शाह वजहन की बेत है—जायसी कहते हैं:

घा-घट जगत बराबर जाना।
जेहि महँ धरती सरग समाना।

इन चौपाइयों का अर्थ ही एक नहीं वर्णन शैली भी एक है और वर्णन का उद्देश्य भी वही है। यह सूफी मत की एक बड़ी महान साधना है। इसे आज भी बड़ा महत्व दिया जाता है और 'जिक्र' या 'जिक्र-ए महमूद' कहा जाता है। अखरावटी में यही जिक्र है। 'आखरी कलाम' में इसी जिक्र का परिणाम वर्णित हुआ है। 'तरीकत' की रू से पहली रचना 'जिक्र' की मंजिल में है और दूसरी 'मुशाहिदा' (साक्षात्कार) की मंजिल में। उसमें आखरों के माध्यम से सिफात का 'ज़ात' में 'जम' (विलीन) हो जाना दिखाया गया,

अखरावटी में कहा गया था,

व-वह रूप न जाय बखानी।
अगम अगोचर अकथ कहानी।

और, आखरी कलाम ने सूचना दी जाती है कि:

भंजन गढ़न सँवारन, जिन खेला सब खेल
सब कहँ टारि मुहम्मदे अब होइ रहा अकेल

वहाँ रूप (हुस्न) कल्पना सीमा से परे था और ज्ञानेंद्रियों से दूर। यहाँ तोड़ने, गढ़ने सवाँरने का खेल समाप्त हो चुका है: कसरत वहदत में समा गई है। अब 'वो' अकेला है:

एक चमकार होइ उजियारा,
छपे बीजु तेहि के चमकारा।

अर्थात् अब एक चमक होगी ऐसा उजाला फैलेगा कि बिजलियाँ मंद पड़ जायँगी। सारांश यह कि दोनों मसनवियाँ एक ही क्रम की हैं। एक सृष्टि से आरंभ होती है और दूसरी प्रलय में समाप्त। इन्हें एक साथ पढ़ना चाहिए और 'आखरी' साहित्य होने के नाते इसके नाम 'अखरावटी' और 'आखरी कलाम' होने चाहिएँ।

पौराणिकी

एक आर्त्त, दूजे कहे, जिज्ञासु मतिमान।
तीजे अर्थार्थी मनुज, चौथे ज्ञानी जान ॥२२८॥

इनमें पहिले जे कहे, तीन भक्त यहि ठाम।
ते सब स्वारथ वश करत, हरत भजन अभिराम ॥२२९॥

चौथो ज्ञानी हरि निरत, परा भक्ति जब पाय।
शुद्ध कामना तें रहित, प्रेम मगन ह्वै जाय ॥२३०॥

ब्रह्म भावना भरित चित, परम मगन मन मीत।
नहि सोचे चाहे न कछु, लहि आनंद पुनीत ॥२३१॥

सकल चराचर जीव हित, शांति निकेतन धीर।
परा भक्ति पावत परम, पावन पुलक शरीर ॥२३२॥

अंतरंग बहिरंग, ये, द्वै विध भक्ति विधान।
अंतरंग भाषी परा, जेहि देत भगवान ॥२३३॥

अपरा है बहिरंग यह, जप तप पूजन रूप।
याके सिद्ध भये परा, पावत भक्त अनूप ॥२३४॥

कारण अपरा है, परा, भक्ति माँहि यह सिद्ध।
कबहूँ बिन अपरा, परा, पावत भक्त प्रसिद्ध ॥२३५॥

कहे कीर्तनादि यदपि, परा भक्ति के अंग।
तदपि अधिक रुचि वश वही, मुख्य होत लहि संग ॥२३६॥

पराभक्ति - अंतरगता मुख्य कही है भक्ति।
साँची सोई जानिये, जो साँची अनुरक्ति ॥२३७॥

श्रवण भजन कीर्तन करत, श्री हरि भक्त उदार।
प्रेम सहित स्वारथ रहित, साँचे मन रिझवार ॥२३८॥

यहो कर्म निज पाप के, प्रायश्चित्त स्वरूप।
करत आर्त्त जो, सो नदी, निकट खनत है कूप ॥२३९॥

निज पापक्षय हेतु जो, कीर्तन आर्त्त कराहिं।
सो सावधि सामान्य है, निरवधि जानहु नाँहि ॥२४०॥

चाहे जेतो कर्म कोउ, करै बनाइ बनाइ।
बिना भक्ति सब व्यर्थ है श्रुति यह कहति सुनाइ ॥२४१॥

भक्ति रहित जे कर्म ते, सबै व्यर्थ जग जानु।
बिना भक्ति रीझे नहीं, श्री हरि गोकुल भानु ॥२४२॥

कर्म वही जातें हरी, रीझत, व्यर्थ सु अन्य।
बिद्या सोइ लहि होत जेहि, श्री हरि राग अनन्य ॥२४३॥

याही तें जे भक्त हैं, ते सब कर्म बिहाइ।
मनसा बाचा कर्मणा, भक्ति करत सरसाइ ॥२४४॥

अंत वंत सब कर्म लखि, यातें तिन सब छोरि।
अंत-समय-संबल समुझि, करु हरि भक्ति अथोरि ॥२४५॥

अति लघु भक्ति हु करति है, पाप शैल को नाश।
अंधकार नहिं रहि सकै, दिनकर भये प्रकाश ॥२४६॥

भक्तन कों नहिं नाश यह, करी प्रतिज्ञा आप।
यातें हित करि कीजिये, परम यज्ञ जो जाप ॥२४७॥

भगवत - शरण कहे कबहुँ, रहि न सकत कछु पाप।
पड़े ओखली धान की, भूसी बिलगति आप ॥२४८॥

सब मनुजन कों सम अहै, भक्तियोग - अधिकार।
ऊँच नीच सब एक हैं, श्री हरि के दरबार ॥२४९॥

द्विज तें लै, चंडाल लौं, सबै वर्ण सब जाति।
भक्ति भाव करि सकत सब, स्वरुचि कुपाति सुपाति ॥२५०॥

मनुज योनि तें इतरहूँ, बानर गीध गजादि।
भक्ति योग करि चित चही, पाई सिद्‌घ अनादि ॥२५१॥

देव दनुज मनुजादि सब, केवल भक्ति दृढ़ाइ।
भये सिद्ध अरु होइहैं, अमृत मधुर फल पाइ ॥२५२॥

परा भक्ति मैं जो नहीं, पगे सोऊ हरि धाम।
पावत नाते भक्त के, कामी कुटिल निकाम ॥२५३॥

बहु जन्मन के अंत जो, ज्ञानी तरत सुजान।
सो ज्ञानी की है कथा, कही याहि भगवान ॥२५४॥

सिद्धि पाइ बहु जन्म की, लहत परम गति जोइ।
सोई ज्ञानी जानिये, ताहि कौ यह होइ ॥२५५॥

ज्ञानी कर्मी बहु जनम, धारण करत नराहिं।
जनम मरण दुख साँचहूँ, भक्त सहत कहुँ नाहिं ॥२५६॥

अपराहू यदि आगले, मिलै भक्ति कहुँ मीत।
जनम मरण दुख दूर करि, भक्तन करत अभीत ॥२५७॥

पुनि का कथा बखानिये, परा भक्ति जो होय।
बिन हरि कृपा कहा कहो, या कौं पावत कोय ॥२५८॥

होत नाश नहिं भक्त कौं, यह कह रमा निवास।
जो चाहो भव तरन तौ, करौ सुजन विश्वास ॥२५९॥

विप्र छत्र विश शूद्र अरु, नारी लौं चंडाल।
शरणागत ही तरत हैं, करुणा पाइ विशाल ॥२६०॥

निज निज कर्म करे तरैं, अहंकार तें हीन।
श्री हरि भक्ति प्रताप तें, भव बंधन करि छीन ॥२६१॥

बार बार बहु लोक में, भ्रमत रहत यह जीव।
अहंकार वश सहत है, सुख दुख सहज अतीव ॥२६२॥

अहंकार के छुटत ही, करि निज कर्म रहेत।
भक्ति भाव वश लहत है, प्राणी ईश निकेत ॥२६३॥

योग याग जप तप नियम, संयम व्रत उपवास।
बिना भक्ति सब धूर है ज्ञान-दान की रास ॥२६४॥

कहा कर्म करि कीजिये, जो बंधन को मूल।
वही कामना रहित तो, मेटत भव-भय शूल ॥२६५॥

यातें हरि हित कर्म करि, सांची भक्ति समेत।
भवबंधन ते छूटि नर, पावत दिव्य निकेत ॥२६६॥

सब कर्मन कौं त्यागि कै, सिद्धि लहत जे भक्त।
सद्योगति पावत मनुज, श्री हरि चरणासक्त ॥२६७॥

दुराचार हू भक्त है, जग में पूजन जोग।
श्री हरि भक्ति प्रताप तें, तजत जगत के रोग ॥२६८॥

का समता हरि भक्त की, कोउ करि सकत सुजान।
को वा सम या जगत में, जाके वश भगवान ॥२६९॥

सब जाके आधीन सो, प्रभू भक्त-आधीन।
साँचे मन के मेल तें, लेहु अमृत फल बीन ॥२७०॥

आर्त्त जीव की भक्ति है, जौ लौं कष्ट न जाय।
या भक्ती मैं सुख कहाँ, जो नहिं सहज लखाय ॥२७१॥

या ही विधि जो पातकी, पाप नशावन हेत।
भजत भूरि भगवान कौं, सोऊ कछु फल लेत ॥२७२॥

महा पातकीहूँ बिषैं, सहज भक्ति यदि होय।
पहुँचाहूँ हरि धाम चट, सब पापन कौं खोय ॥२७३॥

होय अचल एकान्त जो, भाव राग मैं मीत।
परा भक्ति सोई सुखद, हरि पद देत पुनीत ॥२७४॥

नेकहुँ होति प्रवृत्ति जो, श्रीहरिचरणन ओर।
ताकौं चित वृति आपुहीं, परा भक्ति दग कोर ॥२७५॥

ईश सच्चिदानंदमय, सृजनेच्छा जब कीन।
तब सदंश तें आपु प्रभु, जड़ प्रपंच रचि लीन ॥२७६॥

त्यौं चिदंश ते प्रगट किय, प्रभु चैतन्य प्रपंच।
यातें सत्यहिं जानिये, जगत न मिथ्या रंच ॥२७७॥

है वियोग आनंद तें, अमित काल तें मीत।
ताहि मिलावन जीव कौं, भक्ति हि एक पुनीत ॥२७८॥

है चिदंश जो जीव सो, मिलै जाइ जब धाइ।
ईश रूप आनंद तें, तब बंधन छुटि जाइ ॥२७९॥

श्रीहरि श्रीहरि जन दया, पाइ जबै यह जीव।
आनँद रूप वियोग को, अनुभव करत अतीव ॥२८०॥

यह वियोग को स्मरण ही, जानहुँ एक निदान।
याकैं होतेंहिं देत हैं, आनँद श्रीभगवान ॥२८१॥

वा आनंदानुभव को, को करि सकै बखान।
ज्यौं गूंगो गुड़ खाइ के, का कहि सकै सुजान ॥२८२॥

सत चित आनँद रूप यह, जगत जीव औ ब्रह्म।
हैं कहिं त्रयरूप यह, सत्य सत्य सब ब्रह्म ॥२८३॥

वही जगत है, जीव वहि, वही ब्रह्म पहिचानु।
वही एकही रूप तें, हैं त्रिरूप सब जानु ॥२८४॥

यह चेतन आनंद तें, है वियुक्त अति काल।
पावे यदि यह वाहि तौ, छिन महँ होय निहाल ॥२८५॥
या वियोग की सुधि जबै, चेतन करत विचारि।
तबै दयानिधि देत हैं, माया को पट टारि ॥२८६॥
बुद्धि योग कों पाइ तब, यह चेतन मन लाइ।
होइ जात कृत कृत्य झट, अभिमत प्रभुघर पाइ ॥२८७॥
सत सह चित आनंद लहि, होत जबै स्वच्छंद।
तबै सांच होइ जात है, सुभग सच्चिदानंद ॥२८८॥
एक सच्चिदानंद तें, सत चित जब बिलगाय।
तबै चराचर विश्व यह, माया लसित दिखाय ॥२८९॥
माया परिहरि सत समुझि, चित जब आनँद चाहु।
तब तेहि लहि तरि जात यह, चट भव सिंधु अथाहु । २९०।
यातें आनँद लहन कों कीजे सहज उपाय।
जातें माया जनित यह, भव बंधन मिटि जाय ॥ ९१॥
भूलि रह्यौ अतिकाल तें, आनंदहिं यह जीव।
याही तें भव भ्रमत नित, सहत कलेश अतीव ॥२९२॥
सुधिकरि वा आनंद लहि, जब यह जीव जुड़ाय।
तबै मुक्त ह्वै बँधतें, अविचल सुख सब पाय ॥२९३॥
या कारन मन लाइकै, भजहु सच्चिदानंद।
मुक्ति मिलै मन भावनी, छुटैं सबै दुख द्वंद ॥२९४॥
सबै मनोरथ होत हैं, पूरन लहि आनंद।
सब बंधन तें मुक्त ह्वै, जीव होत स्वच्छंद ॥२९५॥
जौ लौं छूटै नाहिं यह, कर्मफलन को संग।
तौ लौं मुक्ति मिलै नहीं, करत रहौ जड़ जंग ॥२९६॥
नहिं स्वतंत्र कोउ वस्तु है, माया यह जिय जानु।
अहै ईश की शक्ति वह, विमल बुद्धि पहिचानु ॥२९७॥
है जु सहज चैतन्यता, शून्य ईश की शक्ति।
अन्य चिदंश समान यह, माया जानहुँ रक्ति ॥२९८॥
प्रथक नहीं यह ईश तें, जड़हु नाहिं चैतन्य।
इच्छाधीन करै सदा, कर्मस्वरूप अनन्य ॥२९९॥

यही योगमाया महा, अखिल विश्व को कृत्य।
हरि इच्छा आधीन है करति रहति है नित्य ॥३००।

जब याके बहु फंद तें, छुटै जीव बड़ भाग।
तबहीं आवागमन तें रहित होत रस पाग ॥३०१॥

वह रस श्री हरिभक्ति है, परम प्रेम अनुरक्ति।
करुणाकर करुणा विमल, मुक्ति करन धृति शक्ति ।३०२॥

झुठहुँ टेरें साँचही, सुमुख होत भगवान।
करुणाकर वितरत तुरत, निज पद प्रेम महान ॥३०३॥

वही प्रेम हरि भक्ति है, ईश चरण अनुरक्ति।
जातें या संसार तें, उपजे चित्त विरक्ति ॥३०४॥

जबै होय अनुरक्ति धौ, हरि चरनन मैं मीत।
तबै जीव भव भय विरत, लेत मुक्ति पद जीत ।३०५॥

यह सत चित आनंद को, मेल सच्चिदानंद।
वितरत आपुहि करि दया, काटन को भव फंद ॥३०६॥

व्यापक है यदि सत्य तो, अहै व्याप्यहु सत्य।
है ईश्वर यदि नित्य तो, कैसे जगत अनित्य ॥३०७॥

है सदंश मैं व्याप्त यह लखु चिदंश सुनु मीत।
त्यों चिदंश मैं व्याप्त है, आनंदांश पुनीत ॥३०८॥

भाव व्याप्य व्यापक यही, समुझावत सच बात।
व्याप्य अहै संसार औ, व्यापक ईश्वर, तात, ॥३०९॥

स्वाभाविक या जीव कृत, यह जग नाहिं सुजान।
कर्ता एक बखानिये, सर्व शक्ति भगवान ॥३१०॥

नाहिं अंत ब्रह्माण्ड को, नेक विचारहु मीत।
स्वाभाविक कैसे कहैं, जो है बुद्धि अतीत ॥३११॥

को ऐसो प्राणी अहै, जो सिरजत जग भ्रात।
काकी ऐसी बुद्धि है, को बलवान विख्यात ॥३१२॥

आ जग के बिस्तार लखि, कुंठित बुद्धि लखाति।
ताको सिरजनहार कोउ, अलख अगोचर जानि ॥३१३॥

मानबानी ते जो परे, बुद्धिगम्य जो देव।
सोई या संसार को, सिरजत, जानत भेव ॥३१४॥

बेद नेति जेहि कहत है, पुनि उपनिषद बखान ।
सोई या संसार को, सृजत आपु भगवान ॥३१५॥
जैसे पुत्रन को पिता, शिक्षा देत सहेत ।
तैसे रचि नर बेद कह, आपुहिं रमानिकेत ॥३१६॥
तापर मुनि मानस प्रगट, उपनिषद अनेक ।
ज्ञान सिंघ जातें प्रगट, माया ब्रह्म विवेक ॥३१७॥
इन सबकों मथि तत्व कह, गीता में भगवान ।
वही सनातन धर्म है, और नहीं कछु आन ॥३१८॥
गीता गीतहिं गाइये, अन्य शास्त्र तजि मीत ।
यातें है जग अधिक को, सुंदर शास्त्र पुनीत ॥३१९॥
ईश्वर कृत नहिं बेद यह नास्तिक बचन सुजान ।
नहिं हिंसा है बैदिकी, है यह शास्त्र प्रमान ॥३२०॥
यदि हिंसहु है तदपि सो थोरी ही जान ।
अग्निष्टोमादिक विषैं, सोऊ तजहु सुजान ॥३२१॥
हिंसामूलक यज्ञ सब, तजि भजिये भगवान ।
सार धर्म श्रुति मूल यह कृत उपनिषद विधान ॥३२२॥
ज्ञान कर्म ते मोहि मुख, करिय उपासन ईस ।
सबै छुटै भव फंद यह, काज होय इक्कीस ॥३२३॥*
भक्ति भाव भगवान में, भूलेहुँ है जाय ।
जन्म जन्म के पाप तजि तुरतहिं जन तरि जाय ॥३२७॥
जो चाहै भव तरन तौ, हरिहिं भजहु मन लाइ ।
नसै कर्मफल भोग अरु, मुक्ति मिले सुखदाइ ॥३२८॥
भक्ति भाव को सहज सुख, बरनि सकै को मीत ।
याकैं पायें मिलत प्रभु, श्रीहरि त्रिगुणातीत ॥३२९॥
ऐसी भक्ति सराहिये, जो बिन कारन होय ।
प्रेम करै, चाहै न कछु, ऐसो नर कहुँ कोय ॥३३०॥

* पाडुलिपि में ३२३ दोहे के बाद दूसरी कापी का एक पृष्ठ फट गया है जिससे ३२३ के बाद क्रमशः ३२४, ३२५, ३२६ संख्यक दोहे नहीं हैं। —संपादक

कर्म आपु फल देत है, यह जनि कहहु सुजान।
कर्म कहा फल देइगो, फल दाता भगवान ॥३३१॥

जैसो कर्म करौ लहौ, तैसो फल यह सांच।
होत एक को सौ गुनो, यह बात नहिं कांच ॥३३२॥

होत सौगुनो खेत में, रोप्यो नाज सुजान।
यही कर्म फल की दशा, होत सुनहु दै कान ॥३३३॥

पै यह है संकल्प में, जहां अंहकृत होय।
कियें समर्पण नेकहूं, फल नहि पावत कोय।३३४॥

ऐसें जब ह्वै जात है, सकल कर्म फल नाश।
तबै होत है मुक्त यह, जीव छोड़ि भव पाश ॥३३५॥

जैसे नृप संतोष हित, करहु कर्म मन लाइ।
पै वाके फल देन की, नृप इच्छा है भाइ ॥३३६॥

कहूं बुरो करते मिले, रीझ अनोखी आप।
कहूं भलो करते मिले, खीझ भरी संताप ॥३३७॥

कहूं किये हु न मिलै, कछु यह बहु दोस।
कहूं बिनाही कर्म के, किये मिलै बकसीस ॥३३८॥

सदा कर्म फल है लखो, राजा के आधीन।
किये देत औ न कियें, देत, न दे प्रवीन ॥३३९॥

ऐसें ही भगवान हूं, सदा कर्म फल देत।
करौ कर्म, कै ना करौ, भजौ सदैव सहेत ॥३४०॥

श्री हरि को संतोष नहिं, कबहुँ कर्म आधीन।
साधक हैं संतोष मैं, कर्म न कछु स्वाधीन ॥३४१॥

यातें करि सब कर्म तुम, करौ समर्पण मीत।
तब आपुहिं हरि रीझि कै, दै हैं सुगति पुनीत ॥३४२॥

भोग करन कौ कर्मफल, जब नहिं रहै सुजान।
तबै करत हैं मुक्त या, जीवहिं श्रीभगवान ॥३४३॥

कठिन कर्म को फंद है, सहजहिं छुटत न मीत।
याको साधन अति कठिन, अरु अति सहज पुनीत ॥३४४॥

साधन सहज बखानिये, करौ समर्पण भ्रात।
याही मैं सब जानिये, मुक्त होन कुशलात ॥३४५॥

निज इच्छा तें देत जिमि, पुरस्कार नृप वृन्द ।
तिमि फलदाता जानिये, जीवन हित गोविंद ।।३४६।।

अदभुत दैन बड़ेन की, को करि सकै बखान ।
बिन जाचें ही देत हैं, राजा अरु भगवान । ३४७।।

लाख लाख विनती करो, सुनें बड़े नहिं एक ।
जौ चुप्पी साधे रहौ, तौ बरु मिलै अनेक ।।३४८।।

माँगे तें जब ना मिले, तब चुप रहै मिलै न ।
ऐसो मन महं ना गुनौ, अजब बड़े की देन ।।३४९।।

सौ की सीधी बात हम, जानत यही सुजान ।
टेर दीन जन की सदा सुनत रहत भगवान ।।३५०।।

जो हरि सों लागो रहै, ताको तजत न ईस ।
चाहै जो, तेहि देत हैं चित चाही बकसीस ।।३५१।।

सेवा को फल सुजन जन, देत सहित बकसीस ।।
मनुज मजूरी देत जब, क्यों न देइहैं ईस ।।३५२ ।।

कोऊ कृपण लबार शठ, दुष्ट अधम कुविचार ।
काम कराइ रिसाइ धरि, मारत देत निकार ।।३५३।।

यह है असुरन की रीति है, है ससुरन की नीति ।
ऐसे अधमन पै कबौं, कोउ नहिं करत प्रतीति ।।३५४।।

पै सज्जन जन एक को, देत अनेक अघाइ ।
काम कराइ कृतज्ञता, कबहुँ न देत भुलाइ ।।३५५।।

यह है प्राकृत जन कथा, देखहु नैन पसार ।
यहाँ होत कुविचार कहुँ. कँतहुँ होत सुविचार ।।३५६।।

पै जो अप्राकृत परम, करुणाकर भगवान ।
वह निज जन कों कबहुँ नहिं, भूलत कृपानिधान ।।३५७।।

यातें मन तें बैन तें, काया तें निशियाम ।
भजत रहौ भगवान कों, छोड़ि सबै जग काम ।।३५८।।

भक्ति भाव के भेद तजि, जैसें हूँ बनि जाय ।
भजन करहु भगवान कों, मान सहित मन लाय ।।३५९।।

जा क्रम तें उत्पत्ति है, जानहु समुझि सुजान ।
तातें उलटो क्रम अहै, लय को यहै प्रमान ।।३६०।।

रहत समानी एक में, जैसे डिबिया भीत।
वैसे सब जग ब्रह्म में सदा बसत यह रीत ॥३६१॥

जा क्रम तें डिबिया लखै, बिलग होति हैं भाय।
ताके उलटे क्रम लखौ, वह सब जाहिं समाय ॥३६२॥

ऐसें ही जो ब्रह्म तें, प्रकृति महत्तत्त्वादि।
जा क्रम तें ये होत ता, उलटे क्रमहिं समाति ॥३६३॥

सत तें सत ही होत औ, सत मैं सतहि समात।
यातें या संसार को, समुझहु सत्यहि तात ॥३६४॥

ज्ञान सत्य जब होत है, तबहीं उपजे प्रीति।
यही भक्ति को मार्ग है, यही सनातन रीति ॥३६५॥

है नानात्व उपाधि कृत, निरुपाधिक वह एक।
द्वैताद्वैत विचार को, है यह सत्य विवेक ॥३६६॥

रवि-मंडल-गत ध्याइए, श्री नारायण रूप।
रवि मंडल औ श्री हरी त्यौं द्वै रूप अनूप ॥३६७॥

हैं वास्तव में पृथक नहिं ये द्वै रूप सुजान।
मंडल को अपनाइ के, एक रहत भगवान ॥३६८।

मंडल को लय होत जब, श्रीहरि में सुनु तात।
एक मात्र तब श्री हरी, एकहिं एक दिखात ॥३६९॥

याही विधि संसार को लय करि अपने माँहि।
तब केवल भगवान हीं एकहिं एक लखाहिं ॥३७०॥

भिन्न न कोउ भगवान तें, वस्तु विशेष दिखात।
जैसे पहिले हम कही, हरि अरु रवि की बात ॥३७१॥

रवि तें भिन्न दिखात पै, भिन्न न अहै प्रकाश।
एसे माया जीव अरु ब्रह्म न भिन्न विकास। ३७२॥

एक है बहु रूप अरु बहु रूपहु ह्वै एक।
प्रकृति पुरुष अरु ईश को भिन्नाभिन्न विवेक ॥३७३॥

'वासुदेव है सब' यही, कही सही भगवान।
देखहु गीता खोलिकै, जो तुम हौ मतिमान ॥३७४॥

पृथक् करण में होइगो, असंबंध अनिवार।
द्वैत भाव को होइगो, तब पूरो संचार ॥३७५॥

नहीं द्वैत को ठौर ह्याँ अद्वैतहुँ को नाहिं।
द्वैताद्वैत विधान तें, समुझहु तत्त्व सदाहिं ॥३७६॥

वही एक ही होत बहु, बहुतें पुनि ह्वै एक।
त्रिविध ब्रह्म की एकता, भिन्नाभिन्न विवेक ॥३७७॥

आत्मा अविकारी अहै, ज्यों अविकारी ईस।
अविकारी तें जो भयो, ह्वाँ विकार कहँ दीस ॥३७८॥

सत तें असत न होत कहुं, असत असत तें होय।
जो सत ब्रह्म बखानिए, तो जग असत न होय ॥३८६॥

यह सब माया ब्रह्म की, कौतुक करति अनंत।
जामें भ्रमबस जीव फँसि, भव भय भरित भ्रमंत ॥३८०॥

जब आवै हरि शरण में, माया तबै पलाति।
छुटै(टै?)तुरत भव फंद अरु,सुगति होय सब भाँति ॥३८१॥

शरणागत वत्सल सुमुख, सदा सदय भगवान।
नाहिं बिसारत निज जनहिं, कबहूं कृपानिधान ॥३८२॥

जग हरि के आधीन है, हरि हैं भक्ताधीन।
भक्त वश्यता वे लखैं, जे जन परम प्रवीन ॥३८३॥

है आनन्द न सुलभ जग, देखहु नैन पसार।
तौ जन परमानन्द कब, पावत सहज अपार ॥३८४॥

कृपा करैं आनन्दमय, जबहीं मोहन लाल।
तबहीं निज जन होत हैं, जग सब भांति निहाल ॥३८५॥

श्री श्री परमानन्द मय श्री हरि में अति धन्य।
करत करत अभ्यास के, उपजति भक्ति अनन्य ॥३८६॥

होत जबै परिपक्व वह, अविचल अचल समान।
तबै होत तद् बुद्धि शुभ, भृंगी कीट समान ॥३८७।

पुनि वा बुद्धिहु को जबै, शुभ लय होत पुनीत।
तबै परात्म वियोग कृत, दुःख होत अपनीत ॥३८८॥

तब सब सुधि बुधि छोड़ कै, सकल वासना धोइ।
परमानन्द समाधि मैं, मग्न होत रस मोइ ॥३८९॥

पुनि वह भक्त शिरोमणी, भक्ति विभव सुख पाइ।
श्री हरि लीला परिकरन, मध्य मिलन है जाइ ॥३९०॥

यही परम गति है, यही, मोक्ष महान कहात।
यही जन्म साफल्य है, यही कुशल कुशलात ॥३९१॥

याके बिन नहिं और कछु, सकल विश्व में सार।
याहि देत निज जनहिं हरि, करुणासिंधु उदार ॥३९२॥

मानुष तन लहि कीजिए, श्रीहरि भजन सहेत।
आवागमन मिटाइ हरि, निज शरणागति देत ॥३९३॥

जौ चाहै भव तरन तौ, हरि शरणागत होहु।
महापतित जो जगत मैं, हरिपद पावै वोहु ॥३९४॥

जो सुख श्री हरि भजन मैं, सो सुरपुर हूं नाहिं।
संकट आवागमन कौ, छिनक माहिं नस जाहिं ॥३९५॥

श्रुति मूलक सिद्धान्त यह, हरि पग मैं अनुराग।
जो या रस मैं पगि रहे, सो साँचे बड़ भाग ॥३९६॥

यहि हरि भक्ति भूषण विमल, भक्त शिरोमणि जीव।
परमानन्द सुधा सुरस, चाखत सहित अतीव ॥३९७॥

भक्ति विभव भगवान को, पावत भक्त अनन्य।
छूटत भव भय त्रास तें, कोटिन मैं कोउ धन्य ॥३९८॥

चौरासी लख योनि महं, भ्रमत भ्रमत यह जीव।
हरि शरणागत होत जब, तब सुख लहत अतीव ॥३९९॥

भक्ति बड़ी, कै भक्त यह, जानत श्री भगवान।
भक्ति-भक्त के भावमय, जानत कौन निदान ॥४००॥

पक भक्ति-भावुक भलो, भक्त भाव-भंडार।
सुखदुख सम समुझत तरत, सहज सुजन संसार ॥४०१॥

संचित अरु प्रारब्ध कौ, भोग किए बिन मीत।
होत लाभ आनंद किमि जीवहिं परम पुनीत ॥४०२॥

प्रारब्धादिक भोग नित, भोगत दुर्भग जीव।
इनतैं मुक्त सदा रहैं, श्री हरि भक्त अतीव ॥४०३॥

संचित आदिक कर्म सब, छिन महँ आपु नसात।
सुमिरत श्री भगवान के, हरि भक्तन के तात ॥४०४॥

छिन छिन बीतत कल्प सम, हरि वियोग महँ जासु।
संचित अरु प्रारब्ध तहँ, टिकैं कौन बिधि तासु।४०५॥

अमित कल्प सम होत जेहि, छिन हरि विरह विचारि।
ते संचित प्रारब्ध कों, देत छिनहिं महँ जारि।४०६।

सुमिरत श्री हरि को सुखद, लीला संगम भक्त।
कोटि कल्प कृत स्वर्ग सुख, छिनहिं लहत अनुरक्त॥४०७॥

या बिधि भक्तन के सदा, भस्म होत तत्काल।
संचित अरु प्रारब्ध के, भोग असंख्य कराल।४०८।

हरि वियोग संयोग के, अनुभव तें छिन मांहि।
सकल कर्म बंधन अमिट, आपुहिं जरि जरि जाहिं॥४०९॥

यातें भक्ति सहित हित, करुणाकर भगवान।
यही परम गति जीव की, यही सुमुक्ति निदान॥४१०॥

मन-मन्दिर पधराइले, श्री हरि चरन सरोज।
बंध मोक्ष की नेकहूँ, जनि करिये कछु खोज।४११॥

होत जबै रति ईश मैं, अचल अमल अनकाम।
तबै बिरति अति होत है, जग मैं समुझि निकाम॥४१२॥

वहै भक्ति भगवान की, जहां कामना नाहिं।
सबै काम पूरन करत, आपुहिं हरि छिन मांहि॥४१३॥

जग कारण भगवान मैं, है जु अभक्ति सुजान।
हेतु सोई संसार को जानहुँ, नहिं अज्ञान॥४१४।

जगत हेतु भगवान मैं जो अभक्ति सोइ तात।
कारण बंधन को अहै, सांची है यह बात॥४१५॥

बंध-मोक्ष-दाता हरिहिं, अधम भूलिगो जोइ।
जन्म मरण के फेर मैं, भ्रमो करत है सोइ॥४१६॥

श्री हरि मुक्ति निदान कों, भूलि रह्यौ जो जीव।
मोक्ष, कहौ सो, किमि लहै, बंधन ग्रसित अतीव ४१७॥

बंध मोक्ष स्वामी अहो, जातें रूठो मीत।
अधम जीव, सो, किमि लहै मुक्ति पियूष पुनीत॥४१८॥

यातें सब तजि हरि भजहु, जो चाहहु कल्यान।
काटि सकै हरि बिन नहीं, भव बंधन कोउ आन॥४१९॥

खीझि देत भव बंध हरि, रीझि देत तेहि काट।
यातें भजि भगवान कों खोलहु मुक्ति-कपाट ॥४२०॥
मानव बुद्धि विवेक तें, भली भांति यह जान।
कैसें करुणा करि छिनहिं मुक्ति देत भगवान ॥४२१॥
भली भांति जानी परे जानन चह जो कोय।
आप्त वचन, अनुमान, अरु, अक्ष, देत भ्रम खोय ॥४२२॥
यही नेत्र हैं जीव के, तीन महेश समान।
इनतें जो देखें तिनहिं, दीख परें भगवान ॥४२३॥
इन तीनन तें होत है सत्यासत्य विवेक।
मिटैं भेद के भाव सब, शेष रहे सोइ एक ॥४२४॥
नर तन पायें कों यही, परम लाभ जिय जान।
सांचे मन के मीत हरि, भजहु सहेत सुजान ॥४२५॥
ऐसे स्वामी पाइ मन, क्यों डोलत भरमाइ।
जो टेरै हरि हेतु करि, ताको भव भय जाइ ॥४२६॥
अविकारी भावन विषैं, होत प्रतीत विकार।
यह संयोग क्रिया फलक, लीजै सुजन विचार ॥४२७॥
ज्ञान भयें हरि रूप कें लहै भक्ति नर चारु।
तब निश्चय भगवान तेहिं भव तें देत उबारु ॥४२८॥
अविकारी के शरण में, अविकारी जब जाय।
तब वह परमानंद सुख, पाइ अतिहिं हरषाय ॥४२९॥
वर्णन श्रीहरि भक्ति कों, करत सहेत सुजान।
परम प्रेम रूपा सोई, श्रीहरि मैं पहिचान ॥४३०॥
अमृत रूपिणी ताहि लहि, अमृत सिद्ध नर होइ।
श्रीहरि चरण सरोज रस, चखत तृप्त है सोई ॥४३१॥
जेहि लहि पुनि कछु ना चहत, सोच न द्वेष न राग।
रमत न उत्साही विषय-रु भोग माँहिं बड़भाग ॥४३२॥
होत मत्त जेहि लहि मनुज, स्तब्ध अनवरतकाल।
आत्माराम अकाम मुद, मानस निपट निहाल ॥४३३॥
नाहिं कामना के लियें भक्ति कही सुनु मीत।
है निरोध रूपा सुखद, सुंदर परम पुनीत ॥४३४॥

विमर्श

राजस्थानी विश्वविद्यालयों के शोधप्रबंधों के संदर्भ में

प्रतापरासो—एक अवलोकन

प्रतापरासो कछवाहों के नरूका वंश के अलवर राज्य के संस्थापक महाराज प्रतापसिंह के जीवन तथा युद्धाभियानों पर आधारित ऐतिहासिक काव्य कृति है। ग्रंथकार जीवण जाचिक ने जिस प्रकार घटनाओं का उल्लेख किया है उससे प्रमाणित होता है कि यह ग्रंथ चरित नायक की समकालिक रचना है। विवेच्य ग्रंथ का संपादन डा० मोतीलाल गुप्त ने किया हैं तथा प्रकाशन राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर में हुआ है। डा० गुप्त ने अपनी संपादकीय प्रस्तावना में यह संकेत नहीं दिया है कि यह ग्रंथ उनकी डी० लिट् की उपाधि हेतु संपादित शोध-प्रबंध है, किंतु जोधपुर विश्वविद्यालय से इस ग्रंथ पर वे डी० लिट् की उपाधि प्राप्त कर चुके हैं।

डा० गुप्त ने अपनी १७६ पृष्ठों की विस्तृत संपादकीय प्रस्तावना में ग्रंथ की ऐतिहासिक प्रामाणिकता, उसका महत्व और भाषाशास्त्रीय विश्लेषण प्रस्तुत किया है। प्रस्तावना को हस्तिदया परिवार, प्रतापरासो के अध्ययन का आधार, प्रतापरासो का वस्तु - विषय - विवेचन, कवि - परिचय, ऐतिहासिक विवेचन और प्रतापरासो की भाषा प्रभृति उपशीर्षकों में विभाजित कर महत्वपूर्ण विवेचन किया है। तदनंतर ६३ पृष्ठों में ग्रंथ का मूल पाठ संपादित रूप में प्रस्तुत किया है। अंत में दो परिशिष्टों के रूप में कवि खुसाल कृत प्रतापरासो (लछिमनगढ़ रासो) और ग्रंथ में आए हुए व्यक्ति नामों की शब्दानुक्रमणिका संमिलित की है। कहीं कहीं ग्रंथ में प्रयुक्त कठिन शब्दों के अर्थ और संक्षिप्त ऐतिहासिक प्रसंगों के स्पष्टीकरण के लिये पाद टिप्पणियाँ भी दी है। वैसे ग्रंथ की भाषा दुरूह नहीं है। ग्रंथ लेखक ब्रजभाषा क्षेत्र का विद्वान् था। किंतु रासो परंपरा का ग्रंथ लिखने की उसकी अभिलाषा ने ब्रजभाषा के इस ग्रंथ में बीस प्रतिशत शब्द राजस्थानी के व्यवहार में लिए हैं, जिनके अर्थ, राजस्थान के स्थानों की भौगोलिक जानकारी, ऐतिहासिक पात्रों का संक्षिप्त परिचय और घटनाओं पर आवश्यक टिप्पण दिए जाते तो ग्रंथ की उपयोगिता भाषा विवेचन तक ही सीमित न रह जाती। विद्वान संपादक अपनी प्रस्तावना की भारी-भरकमता के व्यामोह में इस ओर ध्यान नहीं दे पाए हैं, फलस्वरूप राज-स्थानी भाषा, यहाँ की मध्यकालीन परंपराओं, सैनिक अभियानों, सांस्कृतिक

मर्यादाओं और राजसी रीतिरिवाजों से अपरिचित अन्य क्षेत्रों के विद्वानों के लिये ग्रंथ को समझना श्रमसाध्य बन गया है।

डा० गुप्त वर्षों से राजस्थान के निवासी हैं और यहाँ के शिक्षा-क्षेत्र के संमान्य विद्वान् माने जाते हैं। उनके द्वारा संपादित तथा शोध प्रबंध के रूप में प्रस्तुत ग्रंथ में ऐसी भ्रांतियाँ जिनकी कल्पना नहीं की जा सकती, एक विचारणीय विषय है। यहाँ सहज दृष्टिगोचर होनेवाली कुछ भूलों की ओर विचार किया जा रहा है।

डा० साहब ने ग्रंथ को भाषाशास्त्रीय निकष पर परखने का प्रयत्न किया है। भाषाशास्त्र की दृष्टि से ग्रंथ का पाठ निर्णय महत्वपूर्ण अंग माना जाता है। पाठ-निर्णय में शब्दों का विच्छेद और संयोजन भली प्रकार अर्थों के समझने से संभव हो पाता है। विवेच्य दृष्टि से पद-विच्छेद और पद संयोजक दोनों ही प्रकार की त्रुटियाँ पर्याप्त संख्या में उपलब्ध हैं। पहले यहाँ पद विच्छेद की असंगतियों के दो चार उदाहरण प्रस्तुत किए जा रहे हैं --

१- संपादक का पाठ—

औनि बोलि मुख बैन आप समीर सु नायब।
कर नर टक नृप कटक धाय सूधे धकि आयब।

पृ० २५ छं० १२८।

शुद्ध पाठ—

औनि बोलि मुख बैन आप समीर सुनायब।
करन रटक नृप कटक धाय सूधे धकि आयब॥

यहाँ उपर्युक्त दोनों पंक्तियों में समीर सुनायक और कर नर टक पाठ अर्थ तथा छंद की दृष्टि से भ्रष्ट है। कवि का दोनों पंक्तियों 'सब उमरावों को सुनाने' और 'नृप की सेना से टक्कर' लेने से प्रयोजन है।

२—

छर छर होय छड़ा लस पार।
जर जर जोय बहै खग धार॥

पृ० २६ छं० १३१।

प्रस्तावित पाठ में छड़ा लस शब्द कोई अर्थ नहीं देता। यहाँ कवि का अभिप्राय भालों के अंग छेद कर पार निकल जाने से है।

राजस्थानी में छड़ाल शब्द भाले के लिये व्यवहृत होता है। इसलिये पाठ होना चाहिए—

झर-झर होय छकाल सपार।
जर-जर जोय बहै खग धार॥

३—इसी पृष्ठ पर आगे की पंक्तियाँ देखिए—

झर-झर श्रोन बहैत सुरंग।
नर-नर रूप चढ्यो नर अंग॥

उपर्युक्त पंक्तियों मे बहैत सुरंग छंदविधान की दृष्टि से तो ठीक है किंतु अर्थ-विचार की दृष्टि से गलत है। हमारे विचार से यहाँ यह पाठ होना चाहिए—

झर-झर श्रोन बहै तसु रंग।
नर नर रूप चढ्यो नर अंग॥

बहै तसु रंग से कवि का भाव रक्त के रंग की भाँति बहने से है।

४-अमावती सम राजगढ़, नृप सो पातिल राव।
जवर जानि राज रु दिये, हत नद गा के दाव॥ पृ० ३२ छंद १६०॥

चिह्नित पंक्ति की पाद टिप्पणी में संपादक ने लिखा है—अर्थ स्पष्ट नहीं है। हतनद गाँव केदाव से दो गाँवों का अर्थ निकल सकता है। किंतु इन गाँवों का पता नहीं लगता। इस टिप्पणी से स्पष्ट है कि उल्लिखित त्रुटियाँ प्रेस, प्रूफ अथवा असावधानी से नहीं हुई है। स्पष्टतः यह शब्द-विच्छेद सही रूप में न कर पाने के कारण हुई है। हतनद गाँव और केदाव से कवि का संकेत किन्हीं गांवों की ओर नहीं है अपितु हतन दगा के दाव का अर्थ है छलाघात के द्वारा मारने सें। इसलिये सही पाठ होना चाहिए—

अमावती सम राजगढ़, नृप सो पातिल राव।
जवर जानि राजरु दिये, हतन दगा के दाव॥

५—कर देख वैरावक सेक करी॥ पृ० ८३ छं० ४०४॥

यहा चिह्नित शब्दों का कोई भी प्रसंगानुकूल अर्थ स्पष्ट नहीं होता। वस्तुतः पाठ होना चाहिए—

कर देखवे राव कसेक करी। अर्थात देखिए राव ने कैसी की है।

६–जग बात जगत रहसीरि धू अमर निरंजन नाम यक। पृ० ९२ छ० ४६१।

ऊपर उद्धृत पंक्ति का पाठ भी भली प्रकार शब्द-विच्छेद न कर पाने के कारण त्रुटिपूर्ण है। अर्थ के पक्ष तथा शब्द की दृष्टि से रहसी और सिधू दो भिन्न-भिन्न शब्द हैं। संपादक ने रहसीरि और धू शब्दों को काट-मिला कर धू का शब्दार्थ ध्रुव टिप्पण में लिखा है, पर रहसी शब्द के साथ रि का संयोग कर 'रहसी'

के अर्थ 'रहेगा' की सार्थकता समाप्त कर दी है। वास्तव में शब्दों का कवि कृत पाठ होना चाहिए—रहसी रिधू अर्थात् स्थिर रहेगा। रिधू का इसी अर्थ में राजस्थानी के अनेक काव्यों मे प्रयोग हुआ है। वीरभाण रतनू कृत राजरूपक की निम्न पंक्ति द्रष्टव्य है— रिधू गोत कनवज रहायो, पृ० १२। इसी प्रकार अनेक शब्दों को गलत रूप से तोड़कर उनके अर्थों और स्वरूपों को भी कम हानि नहीं पहुँचाई है। उदाहरण के लिये दो चार शब्द देखिए—पृ० ४० छं० १८६ पर शस्त्रों के वर्णन के अंतर्गत सत्र नाले अंकित है जब कि शब्द सत्रनाले (शतुरनाले, ऊंटों पर रखकर चलाई जानेवाली तोपें) है। पृष्ठ २४ छं० १२६ पर चत्र भुजोत पाठ दिया है जो होना चाहिए चत्रभुजोत। चत्रभुजोत कछवाहों की बगरू महला ठिकाने के सामंतों की खांप का नाम है, पृ० १६ छं० ८८, लूट लीनी सब लछ घण मे लछ (लक्ष्मी-द्रव्य) और घण (स्त्रियों) के अपहरण की ओर इंगित किया है।

संपादकजी ने कठिन शब्दों के शब्दार्थ नहीं के बराबर दिए हैं। ग्रंथ में राजस्थानी के अनेक शब्द व्यवहृत हुए जिनका अर्थ हिंदी भाषाविदों के लिये देना आवश्यक था। यथा—हूल, आरावे छड़ाल, तोवन, घमचक, खिस्यां, भिलम, चिलते, गोल, हरवल, कंत, थाट, वीराट, त्रमाट, साल, वीने, पटतरै, पलान, कटके, रटके, पाखरे, सीन्व, रजवाट, अवीह, राडि (राड़ि) सुत्रनालें, धाप गई, सर, कुंतलं, उथपन, थिर, तेग और खिलत प्रभृति शब्दों के शब्दार्थ कम से कम देने ही चाहिए थे। क्यों कि इन शब्दों का राजस्थानी युद्ध काव्यों के वर्णन के अतिरिक्त सर्वत्र वर्णन नहीं पाया जाता। अब जहाँ कहीं कठिन शब्दों के अर्थ दिए हैं उन स्थलों और शब्दार्थों के भी एक दो उदाहरण द्रष्टव्य है—

छड़ी सेन ले सहज सुधाये । पृ० १५ छं० ८४।

कथित पंक्ति में छड़ी सेन का अर्थ किया है—'थोड़ी सी सेना'। वास्तव में छड़ी सेन का अर्थ है चुनी हुई सेना। सेना में घोड़े, पैदल, हाथी, ऊँट बैल और तोपखाना आदि सब साथ में रहते हैं। उपर्युक्त छड़ी सेना से केवल चुने हुए अश्वरोहियो का अर्थ लिया जाना चाहिए। छड़ी अथवा छड़ा के प्रयोग गद्य में भी चुने हुए के रूप में उपलब्ध होते है। शाहपुरा राजाधिराज के रोजनामचे से छड़ी शब्द के चुने हुए अर्थ की पुष्टि के लिये कुछ पक्तियाँ पाठनीय हैं—ओर अठा को हाल के जनानो बुगैर लसकर तो फागुण सुद ५ अठै आया अर श्री हजूर ज्यो अलवर रस्ता म्हसुं कुवर पधारया छड़ा सो फागण सुद ८ अलवर रावराजा साहेब वा हजूर वारा पर ३ बज्या अठै दाखल हुवा।

वटै जीन ओटे किलंकी समके।
वटे सेव ही गजगाह गरके ॥ पृ० ३६ छं० १८७॥

उपर्यंकित पद में गजगाह शब्द आया है। संपादक महोदय ने पाद टिप्पणी में गजगाज के अर्थ पर पिप्पणी करते हुए लिखा है—गजगाह-युद्ध, गज और ग्राह के पौराणिक आख्यान के आधार पर गजग्राह अथवा गजगाह का अर्थ ही युद्ध हो गया है। उद्‌धृत पंक्ति में गजगाह शब्द सेना की सजावट और युद्ध के हेतु प्रयाण करने के पूर्व युद्ध-सज्जा की तैयारी के समय प्रयुक्त हुआ है। राजस्थानी में गजगाह शब्द युद्ध के अतिरिक्त इस प्रकार के कई अर्थों मे प्रयुक्त हुआ है। कवि ने स्पष्ट रूप में सेना की तैयारी का उल्लेख भी छंद के प्रारंभ मे किया है और साथ ही युद्ध में उपयोग में आनेवाले शस्त्रों और गजाश्त्रों के युद्ध-उपकरणों का भी वर्णन किया है। गजगाह शब्द झिलम, पाखर, लालिये आदि के साथ व्यह्वत हुआ है अतः गज-गाह का पौराणिक गजग्राह प्रसंग से ताल-मेल बैठाना निरी कल्पना के अलावा और कुछ नहीं है। गजग्राह का उद्‌धृत पंक्ति में अर्थ है—हाथी की झूल अथवा हाथी का कवच। मध्यकालीन योद्धाओं के चित्र जिन्होंने देखे हैं और राजस्थानी संस्कृति का सामान्य-सा भी अध्ययन किया है वे भली प्रकार जानते हैं कि लोहे की कड़ियों से निर्मित गजगाह हाथियों पर लटकते हुए, चित्रों में पाए जाते हैं।

डा० साहब के संपादित ग्रंथ के पृष्ठ १०, छंद ५१ में ये पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

सूने ईस रावत चैनम प्रवेसं।
सुनी सुत्त वैसो अखा इन्द्रेसं॥

इन पंक्तियों मे व्यवहृत अखा शब्द पर टिप्पणी करते हुए लिखा है—आखा, अखा दोनों प्रचलित हैं, जिसका अर्थ अक्षय या पूर्ण है। यहाँ अखा शब्द व्यक्तिवाचक है और अक्षय सिंह नामक योद्धा के लिये व्यवहृत हुआ है, तब फिर अखा का अर्थ अक्षय या पूर्ण करना क्या सार्थक है ?

अब संपादक महोदय की प्रस्तावना के ऐतिहासिक स्थलों का भी अवलोकन उचित होगा—

प्रस्तावना के पृ० ६ की टिप्पणी में लिखा है—'आमेर पति प्रतापसिंह को पीथल तथा अलवर के राव प्रतापसिंह को पातल कई स्थानों पर कहा गया है।' टिप्पणी बिलकुल गलत है और ऐतिहासिक अज्ञानता का एक अद्वितीय उदाहरण है। राजस्थान में रचित ग्रंथों अथवा बोलचाल मे प्रचलित लोकभाषा के शब्दों मे कहीं भी प्रतापसिंह के लिये पीथल शब्द का प्रयोग नहीं मिलता है। पीथल का सीधा-सरल अर्थ है पृथ्वीसिंह। प्रतापरासो के कवि ने भी पृथ्वीसिंह के लिये ही पीथल शब्द का व्यवहार किया है। राजस्थान के इतिहास का सामान्य सा भी जिन्हें ज्ञान है, वे जानते है कि महाराजा सवाई माधोसिंह प्रथम के दो राजकुमार थे।

बड़े पृथ्वीसिंह और छोटे प्रतापसिंह। महाराजा माधवसिंह के देहावसान के बाद पृथ्वीसिंह उनके उत्तराधिकारी बने और उनके अल्पकाल ही में घोड़े से गिरकर मारे जाने पर प्रतापसिंह जयपुर की गद्दी पर बैठे थे। अतः पीथल से रासोकार का स्पष्टः ही महाराजा पृथ्वीसिंह से अभिप्राय है।

पृष्ठ ८ की पाद टिप्पणी में लिखा है—'जैसा अन्यत्र संकेत किया जा चुका है—इस समय अलवर और आमेर दोनों राज्यों के अधिपतियों का नाम प्रतापसिंह ही था।' ग्रंथकर्ता ने राव और राजा विशेषण लगाकर इस भ्रमोत्पादक स्थिति को काफी दूर रखने की चेष्टा की है, किंतु कहीं कहीं गड़बड़ी हो ही गई है। जैसा कि ऊपर की पंक्तियों में इंगित किया जा चुका है कि कवि ने जिस घटना पर यहाँ प्रकाश डाला है उस समय जयपुर के शासक प्रतापसिंह नहीं अपितु पृथ्वीसिंह थे। इसलिये कवि ने तो गड़बड़ी नहीं की है किंतु रासो के संपादक डा० साहब ने कवि के अर्थ को न समझकर अवश्य गड़बड़ी की है।

प्रस्तावना के पृष्ठ ८ की मूल पंक्तियों में लिखा है—अलवर के प्रतापसिंह जी के विवाह का प्रसंग तो आता ही नहीं। हाँ, आमेरपति प्रतापसिंह जी के विवाह का किंचित वर्णन अवश्य है—बीकानेर के राजा ने स्वेच्छा से प्रसन्न होकर वैवाहिक संबंध स्थापित किया था—

दोहा—यों सुनि बीकानेर नृप, गजै आप उरधारि।
पीथल है आमेरपति, दीजै ताहि कँवारि॥
दोहा—लै टीको पीथल नृपति, कीनो चलन समाज।
ब्याहन बीकानेर घर, आमावति के राज॥

उद्धृत छंदों में महाराजा पृथ्वीसिंह के बीकानेर में विवाह करने का कवि ने स्पष्ट वर्णन किया है। राजस्थान के इतिहास, टाड राजस्थान, वीर विनोद, जयपुर का इतिहास, बीकानेर की ख्यात, आमेर की ख्यात आदि सभी ग्रंथों में पृथ्वीसिंह का जयपुर के सिंहासन पर बैठना अंकित है, फिर डा० साहब ने इस प्रकार की बात कैसे लिखी, इस पर विस्मय होता है। वीर विनोद में कविराजा श्यामलदास ने स्पष्ट लिखा है—'वि० सं० १८२७ चैत्र कृष्णा ४ के लग्न पर जयपुर के महाराजा पृथ्वीसिंह का महाराजा गजसिंह बीकानेर की पौती और महाराज कुमार राजसिंह की बेटी विवाही थी।'[1] ऐतिहासिक टिप्पणियाँ इतनी भ्रष्ट और तथ्यों से दूर हैं कि इनके बारे में डा० साहब जैसे विद्वान् से ऐसी अपेक्षा नहीं की जा सकती थी। इतिहास और काव्य का सामान्य अध्येता भी ऐसी भूलें

१. वीरविनोद, कविराजा श्यामल दास, पृ० ५०६।

नहीं करता, जैसी डा० साहब से हुई है। एक उद्धरण और—

कियो क्रोध पातल प्रबल, को नाथावत रतनेस।
येक न दूजो होयसो, यो माधव सुदी नरेस॥

पृ० ८, छंद ४६।

उपर्युक्त दोहे में प्रयुक्त रतनेस पर टिप्पणी करते हुए लिखा है—'नाथावत रत्नसिंहजी—उदयकरणजी की पाँचवीं पीढ़ी में पृथ्वीराज हुए, जिनके १६ पुत्रों में से १२ के वंश चले जो बारह कोठड़ियों के नाम से प्रसिद्ध हुए। नाथावत इन्हीं में से थे। रत्नसिंह जी राणी तँवर जी के पुत्र थे, जो अपने अन्य तीन भाइयों पूर्णमल, भीमसिंह, और आसकरण सहित अलग अलग स्थानों के राजा बने। सामोद, चौमू, अलीराजपुरा आदि इनके ठिकाने थे।' यह टिप्पणी भी हास्यास्पद और तथ्यों से कोसों दूर की कल्पना की प्रतीक है। पृथ्वीराज के पुत्र का नाम रत्नसिंह था। वह अपने पिता के बाद आमेर का राज्याधिकारी बना। उसका निधन जेठ बदि १० संवत् १६०४ में होने पर आसकरण गद्दी पर बैठा था, परन्तु राजगढ़ के युद्ध की घटना सं० १८३८ वि० की है। इस प्रकार कालक्रम की दृष्टि से टिप्पणी में उल्लिखित रत्नसिंह काव्य में वर्णित रत्नसिंह से २३८ वर्ष पूर्व मर चुका था। ऐसी स्थिति में उपर्यंकित टिप्पणी में क्या सार है। सत्य तो यह है कि प्रतापरासो में निर्दिष्ट रत्नसिंह टिप्पणीवाले राजा रत्नसिंह से भिन्न व्यक्ति था। वह नाथावत ठाकुर वीरसिंह का पुत्र और आमेर राज्य के प्रमुख सेनानायकों में से था। वह पृथ्वीराज के चतुर्थ पुत्र गोपाल के पुत्र नाथा की संतति परंपरा में था। नाथावत रत्नसिंह का राजगढ़ के युद्ध में जयपुर के पक्ष में लड़ना नाथावतों के इतिहास और तत्कालीन अन्य काव्य स्रोतों से भी सिद्ध होता है, यथा—

नाथाणी रतनेस जोध जीधातण जब्बर।
भणो हरौला अधमणी कजि घणो फतै कर॥

—राजगढ़ री चढ़ाई री निसांणी

इसी प्रकार पृ० ४४ पर प्रतापरासो में आए हुए प्रमुख व्यक्तियों के नामों की संक्षिप्त परिचिति कराते हुए लिखा है—

'माधवसिंह—आमेर अधिपति, सं० १८०६ से १८३४ वि०।' यह भी अयुक्त है। माधवसिंह का निधन तो मावंडा युद्ध के तत्काल बाद सं० १८२४ वि० में ही हो गया था।

पृ० ५६ पर दौलतरामजी के प्रसंग में 'तारीखवार घटनाएँ' के अंतर्गत लिखा है-'संवत् १८२२ में मचेड़ी के राव प्रतापसिंह के साथ मावंडा-युद्ध में ५०० सवारों

के साथ भरतपुर की फौज पर हमला किया।' इसमें संवत् गलत है। युद्ध का वास्तविक संवत् १८२४ है न कि १८२२ वि०।

सामान्य भूलों का तो उल्लेख ही क्या, एक ओर बड़ी भ्रांति द्रष्टव्य है—प्रस्तावना पृष्ठ १३ पर लिखा है—'प्रतापसिंह अपने आश्रयदाता माधवसिंह जी का दरबार छोड़कर निकल पड़ते हैं। प्रयाण में साथ देनेवाले सरदारों की सूची भी दी हुई है। साथ में छाजूराम हल्दिया भी थे— सजे संग छाजू सहाये अमानी। डेरा करते हुए राव प्रतापसिंह जावली पहुँचे। वहाँ के सरदार ठा० गजसिंह ने पूछा—देसपति तजि देस कों, सजो सेन कहँ जात।' यह टिप्पणी भी भ्रमोत्पादक है। प्रतापसिंह के जयपुर से निर्वासन के समय जावली का ठाकुर गजसिंह नहीं था। वह तो इस घटना के दस वर्ष पूर्व ही मर गया था। तब जावली का ठाकुर धीरसिंह (धीरतसिंह) था। धीरतसिंह गजसिंह का पुत्र था। कवि ने एक बार नहीं पाँच बार धीरतसिंह के और राव प्रतापसिंह के वार्तालाप में धीरतसिंह के नाम का उल्लेख किया है। प्रमाण के लिये रासो की निम्न पंक्तियाँ पढ़िए—

दोहा ढलि डेरा गढ़ जावली, पातिल उतरे जाय।
तहाँ राजत गजसिंह बत, मिले धीर बंधु धाय ॥६५॥
मिलि धीरज बुझे बचन, पातिल सों यक बात।
देसपति तजि देसकों, सजी सेन कहाँ जात ॥६६॥

* * *

धीर वचन यम उचरि, जो कछु चितै सो कीजिए।

* * *

फुरमाये पातिल वचन, धीर रहों यह ठाय।

* * *

धीरज सीख सु ठाँय। दीनि सु पातल नाम।

इस प्रकार संबंधित प्रसंग में विभिन्न छंदों में पाँच बार धीर और धीरज शब्द का प्रयोग स्पष्ट रूप में लक्षित है। यही नहीं—'तहाँ राजत गजसिंह बत' से तो स्पष्ट ही कवि ने गजसिंह के पुत्र बिराजते हैं, कह दिया है।

अब नीचे की पंक्तियों में भाषाविज्ञान की दृष्टियों से तनिक विचार करना असंगतिपूर्ण नहीं कहा जायगा। सर्वप्रथम तो यही प्रश्न उठता है कि भाषाशास्त्रीय अध्ययन के लिये क्या मात्र दो प्रतियों का आधार पर्याप्त होता है, जब कि उनमें से एक भी कवि की कलमी प्रति नहीं है। यदि संपादक का दृष्टिकोण भाषावैज्ञानिक अध्ययन ही प्रस्तुत करना था, तो ऐतिहासिक पक्ष को स्पर्श करने की क्या आवश्यकता पड़ी? ऐतिहासिक पक्ष पर विचार किया तो कला पक्ष में छंद, रस, अलंकार, शैली और काव्य के गुण-दोषों पर विचार करना क्या उचित नहीं था।

इसी संदर्भ में ब्रजभाषा में रासो परंपरा और उसमें प्रतापरासो का स्थान आदि प्रश्नों पर भी प्रकाश डालना चाहिए था।

भाषाविज्ञान की दृष्टि से काव्य में प्रयुक्त डिंगल, फारसी, अरबी और पंजाबी भाषा के शब्दों पर भी विचार करना चाहिए था, जो नहीं किया गया। तेग, जमूरा, जजाले, नकीब, परवानन, सला, माफ, खिलत, चिलकत, कहर, नीढ़ि, नल, माहिमरातिब, गरद, गरूर, बजन, अरावन, राड़ि, लालिया, छड़ाल आदि अनेक शब्दों का प्रयोग-बाहुल्य ग्रंथ में प्राप्त है।

ध्वनिविचार से व और ब, ल और ळ आदि शब्दों के प्रयोग के अंतर पर नहीं दिया गया आदि। यह तो मूल प्रति सामने न होने से दृढ़तापूर्वक नहीं कहा जा सकता कि उसमें मूल रूप में शब्दों के स्वरूप क्या थे किंतु स्वीकृत पाठ में अनेक शब्दों के विकृत रूप प्रतिलिपि में जागरूकता बरतने के बारे में भी संदेह उत्पन्न करते हैं, क्योंकि ब्रजभाषा क्षेत्र में तोबन (तोपों) को तोवन और अराबन (अराबा) को अरावन कहीं भी नहीं बोलते हैं। इसी प्रकार 'लाळिया' के लिये 'लालिया' का प्रयोग भी चिंत्य है। 'लाळिया' घोड़े के जेरबंध को कहते हैं और छंद में जेरबंद के पर्याय रूप में ही काव्य में आया है, परंतु संपादक ने लालिया रूप प्रदानकर शब्द की अर्थवत्ता को नष्ट कर दिया है।

इस प्रकार ऐतिहासिक टिप्पणियाँ, शब्दान्वय, शब्दों के एकीकरण, पृथक्करण वर्ण भ्रांति, पाद टिप्पणियाँ, कठिन शब्दों के अर्थ, आदि अनेक प्रकार की अशुद्धियाँ भ्रांतियाँ और असंगतियाँ संपादित पुस्तक में पदे पदे अनायास ही मिल जाती हैं। कहना न होगा कि शोध-प्रबंध के रूप में डा० साहब ने शोध अन्वेषक के दायित्व के प्रति उपेक्षा बरती है। शोध-प्रबंध के रूप में प्रस्तुत ग्रंथ तो एक आदर्श और अनुकरणीय कृति होनी चाहिए थी, किंतु यह ग्रंथ तो शोध-प्रबंध के महत्व और उपादेयता को नष्ट करनेवाले उदाहरण के रूप में हमारे समक्ष उपस्थित होता है।

—सौभाग्यसिंह शेखावत

*

विविध

हरियाणा की महिला का पहनावा

•

भारतीय संस्कृति और राष्ट्रभाषा हिंदी के स्वरूप की जानकारी तथा अभिवृद्धि के हेतु ग्रामीण जीवन का सूक्ष्म अध्ययन समस्त प्रांतों के जनपदीय लेखकों को करना चाहिए। प्रस्तुत लेख इसी दिशा में मेरा विनम्र प्रयास है जिसका उद्देश्य हरियाणा की महिला के पहनावे तथा तत्संबद्ध शब्दावली पर प्रकाश डालना है। हरियाणी महिला के उत्तरीय चूंदड़ी, च्यांदणी, पीलिया पोमचा, लहरिया, धनक, मीठड़ा, छयामा, दूबला, सोप हैं। आँगी तथा कांचली अंग वस्त्र हैं। स्त्रियों के अधोवस्त्र हैं घाघरा जिसके अनेक भेद हैं- लूँगी, लीली, खारा, लै, किलंदरा, फूल-बोरड़ा, फड़दी, मोटरपहिया, कीकरफूले तथा बेगमभगड़ा। इन समस्त वस्त्रों का सविस्तर विवरण हरियाणा-महिला का सजीव चित्र समुपस्थित करता है।

१. ओढ़ना जिस वस्त्र का बनाया जाता है, वह 'पोत' कहलाता है। पोत दो टुकड़ों को जोड़कर बनाया जाता है जिन्हें 'पाट' कहते हैं। एक पाट की चौड़ाई एक गज और दूसरे पाट की चौड़ाई आधा गज होती है। ओढ़नी एक पाट की होती है। छोटे बच्चों की ओढ़नी को 'टुकरी' कहते हैं। रंगे ओढ़ने को लुगड़ा या लुगड़ी कहते हैं जिस पर कोई बँधाई, छपाई और कढ़ाई का काम नहीं होता है।

२. जिस ओढ़ने का रंग लाल होता है उसे 'चुंदड़ी' (चूर्णिका) कहते हैं। इसकी लंबाई ढाई गज और चौड़ाई पौने दो गज होती है। इसकी कान्नी पर 'सुआतोते की बेल' और पल्ले पर 'सीढ़ियों या चक्रों या आमों की बेल' होती है। यह स्मरणीय बात है कि चुंदड़ी के पल्ले पर मछलियों की बेल जरूर बनती है। चुंदड़ी या ओढ़ने की लंबाई के किनारे को 'पटी' कहते हैं। इस पर पहले बलदमूतना भी लिखते थे। संभवतः यह 'गोमूत्रिका' कहलाती थी।

जो चूंदड़ी विवाह के अवसर पर नववधू को उढ़ाई जाती है उसे 'सिरगुंदी की चूंदड़ी' कहते हैं जिसकी पटी पर बलदमूतना, कान्नी पर बांग बेल, कान्नी के कोणों पर केले और बीच में चाँद और बतख होते हैं। जिस ओढ़ने पर दोमुँही मोरनी, अठागनी फूल, एकमुँही मोरनी, दस फांगड़ी की छोटी मोरनी, पाँखवाली मोरनी, बच्चे की पाँखवाली मोरनी होती है उसे 'च्यांदणी' कहते हैं।

•

३. जिस ओढ़ने की कान्नी पर सखी, गूजरी, मोर और बूटा होते हैं उसे 'सखीगूजरी' कहते हैं।

जिसकी कान्नी पर अंगूर की बेल और पल्ले पर आम की बेल लाल रंग की तथा जिसका आंगन पीले रंग का हो जिसमें छोटा चाँद, बड़ा चाँद और खूंटा हो उसे 'पीलिया' कहते हैं। जिस स्त्री के लड़का उत्पन्न होता है वह पीलिया ओढ़कर कूआ पूजन करती है।

जिस ओढ़ने का आँगन पीला न होकर और किसी भी रंग का हो उसे 'पोमचा' कहते हैं। पोमचे का आंगन हरा, आसमानी, सफेद और काला होता है। इसको गौने जानेवाली स्त्री ओढ़ती है जिसे 'मुकलावली' (मुकलावा) कहते हैं।

जिस पर लाल और पीली, गुलाबी और हरी, सफेद और आसमानी लहर के आकार की धारियाँ हों उसे 'लहरिया' कहते हैं। यह विशेष रूप से सावन में ओढ़ा जाता है।

४. जिस ओढ़ने के पोत का कपड़ा पीला हो उस पर उस रंग से भिन्न चौकोर काचरी या पत्तियाँ हों उसे 'धनक' कहते हैं। इसकी कान्नी और पल्लों पर अंगूर की बेल और उसके ऊपर बूंटें होते हैं।

जिस ओढ़ने की धरती लाल हो और उसपर पीली टिक्कियाँ हों या पीली धरती पर लाल टिक्कियाँ हों उसे 'मोठड़ा' कहते हैं।

शीतकालीन ओढ़ने

'दूबले' को स्त्रियां सरदी मे ओढ़ती हैं। इसकी लंबाई तीन गज और चौड़ाई डेढ़ गज होती है। इसमें तीन टुकड़े जुड़े होते हैं जिन्हें 'पाट' कहते हैं। जुड़े हुए पाट 'कसा' कहलाते हैं जिसे नीलगर से 'नामी रंग' का रंगवाया जाता है। सिरे के टुकड़ों को 'कान्नी' कहते हैं। बीच का टुकड़ा सिरे के टुकड़ों के साथ सिल कर जोड़ा जाता है। इस सिलाई को 'सीम्मया' कहते हैं।

दूबले के सिरे पर पीले, हरे, गुलाबी, उदे, धौले, पीले, आदि रंग की अठारह मोरनी होती हैं।

दूबला

दूबले की किनारी (कान्नी) पर कढ़ाई होती है शेष भाग पर कढ़ाई नहीं होती। दूबले की लंबाई की ओर आठ अंगुल जगह छोड़कर कढ़ाई की जाती है। इसके चारों ओर काले रंग के कपड़े को मोड़कर सिला जाता हैं जिसे 'गोट' कहते हैं। एक चौकोर कोने के ऊपरी दोनों सिरों पर जो दो चौकोर कोने बनाए जाते है, उसे 'तीन बटन का सिरटा' (बाली) कहते हैं। इनके नीचे सफेद धागे की टेव से

टेढ़ी मेढ़ी ७७ शकल बनाई जाती है जिन्हें 'कोठे' कहते हैं। कोठों के नीचे चार तागों (धागों) की एक पतली लकीर काढ़ी जाती है जिसे 'डँडी' कहते हैं। इसके पश्चात् एक धागे की जगह छोड़ी जाती है जिसे 'जाम्मण' कहते हैं।

नामी रंग के तीन पाटों का ओढना 'छामा' कहाता है। इसकी चौड़ाई की ओर दो अंगुल जगह छोड़कर कढ़ाई की जाती है। चौड़ाई के पल्ले की ओर एक कोण में पांच कोण बनाए जाते हैं। इन कोणों की कढ़ाई को 'लहरिया' कहते हैं। लंबाई के किनारों पर जो पीले टेब मारे जाते हैं वे 'जौ' कहलाते हैं।

जिन गोटों से जोड़ने पर कढ़ाई की जाती है उनके भी भिन्न भिन्न नाम हैं। ठप्पी के अग्रिम प्रांत भाग पर जो टेढ़ा मेढ़ा गोटा लगता है उसे 'बांकड़ा' कहते हैं। ठप्पी के आगे और पीछे लगनेवाला त्रिकोणाकार सा गोटा 'बिजिया' कहलाता है। बारीक जंजीर की तरह गूँथा हुआ गोटा 'कांगणी' कहलाता है।

अंगवस्त्र

स्त्रियों के स्तनों को 'चूची' कहते हैं। इनको ढकने के लिये 'आंगी', (आंगिका), चोली और 'कबजा' पहने जाते हैं। इसका वह कटोरीनुमा हिस्सा जो स्त्री के स्तनों को ढकता है 'टुकी' कहाता है। दोनों टुकियों के ऊपर जो गोल-गला-सा बनाया जाता है उसे 'कंठा' कहते हैं। टुकी के नीचे की पट्टी को 'बाड़' कहते हैं। आंगी को कसने के लिये जो नाल बाँधे जाते हैं वे 'कसाण' कहलाते हैं। दोनों टुकड़ियों के निचले किनारे पर पेट ढकने के लिये जो कपड़ा जोड़ा जाता है उसे 'तनकी' कहते हैं।

जो आंगी सामान्यरूप से पहनी जाती है उसे 'देसवाली' कहते हैं। देसवाली की टुकी बड़ी होती है और उसपर फूल या गोटा लगा हुआ होता है तथा शेष भाग पर भी गोटे का काम होता है। ओसवाल वैश्य स्त्रियाँ जिस आंगी को पहनती हैं वे 'ओसवाली' या 'कांचली' कहलाती हैं। ओसवाली की टुकियाँ बिना गोट की होती हैं। दोनों कुचों के निम्न प्रांत के साथ जिस कपड़े को मोड़कर नाला डाला जाता है वह 'नेफा' कहलाता है।

घाघरा

स्त्री के नाभि से लेकर पाँव के टखने तक गुप्त अंगों को ढकनेवाला वस्त्र 'घाघरा' कहलाता है। दैनिक जीवन में जो घाघरा स्त्रियाँ पहनती हैं उसे 'घाघरी' कहते हैं। बढ़िया और भारी घाघरा 'दाम्मण' कहलाता है। घाघरे के लिये 'तिगना', 'तिगनी' शब्द भी प्रयुक्त होता है। घाघरे में कपड़ा जोड़कर जो नाला बाँधने के लिये स्थान बनाया जाता है उसे 'नेफा' कहते हैं। नेफे व चीण का वह

खुला हुआ भाग जहाँ नाले की गाँठ बाँधी जाती है उसे 'खीसा' (नीवि) कहते हैं। घेर के निम्न प्रांत पर जो दो अंगुल चौड़ी पट्टी जोड़ी जाती है उसे 'मगजी' और चार अंगुल चौड़ी जो पट्टी जोड़ी जाती है उसे 'लाम्मण' कहते हैं।

छपाईवाले घाघरों के नाम

छपाई को 'ठेका' कहते हैं। जिसका कपड़ा (धरती) लाल हो और उस पर पीली बुंदी हो, उसे 'मोठड़ा' कहते है। जिसकी धरती काली हो और उसपर लाल बूँदी हो, उसे 'कैरी' कहते हैं। जिसकी धरती हल्की लाल या भूरी हो और उस पर लाल या नीली बुंदियाँ हों उसे 'बोहड़ा' कहते हैं। जिसकी धरती काली, फूल धौला लाल और पीली टिकियाँ सहित हो उसे 'कीकरफूला' कहते हैं। जिस घाघरे का कपड़ा लाल रंग का हो और उस पर पीले पाट (रेशमी धागे) की कढ़ाई होती है उसे 'लीली' कहते हैं। जिस घाघरे के ताने के धागे नीले और पेटे के धागे लाल होते हैं और जिसमे लाल और नीली क्यारियाँ सी बुनी जाती हैं उसे 'लूँगी' कहते हैं। जिस घाघरे के कपड़े का ताना नीला और पेटा लाल होता है और जिसमे सीधी लकीर सी बुनी जाती है उसे 'खारा' कहते हैं। लालरंग के कपड़े पर धौली (सफेद) छपाईवाला घाघरा 'लैचा' कहलाता है। 'किलंदरा' घाघरे की लकीर खारे से मोटी होती है। 'खरबास' घाघरे का रंग धौला (सफेद) होता है। जिस घाघरे का खद्दर नीला (लीला) होता है और उस पर कढ़ाई की जाती हैं उसे 'लै' कहते हैं।

—विष्णुदत्त भारद्वाज

हाड़ौती बोली का स्वरूप

कन्हैयालाल शर्मा

•

हाड़ौती शब्द की उत्पत्ति 'हाड़ा' शब्द से हुई है। हाड़ौती उस भूभाग की बोली है जिस पर चौहान वंश की शाखा हाड़ा राजपूतों का शताब्दियों तक अधिकार रहा है हाड़ा हाड़ौती प्रदेश में प्रमुख रूप से बसे निवासी नहीं हैं, अपितु यहां के शासक रहे हैं। उन्हीं के नाम पर बने 'हाड़ौत'[2] से उसी प्रकार 'हाड़ौती' शब्द बना है जिस प्रकार शेखावत से शेखावाटी और तोरावत से तोरावाटी।

डा० ग्रियर्सन ने हाड़ौती बोली के क्षेत्र को इतना विस्तार दिया है कि 'सीपरी' को भी उसी के अंतर्गत स्वीकार कर लिया है, पर यह हाड़ौती से भिन्न बोली है।[3] हाड़ौती वर्तमान कोटा एवं बूंदी जिलों तथा झालावाड़ जिले के उत्तरी भाग की प्रमुख बोली है। कोटा जिले की शाहाबाद एवं पूर्वी किशनगंज तहसील के निवासी हाड़ौतीभाषी नहीं हैं और बूंदी जिले की इंद्रगढ़ और नैनवा तहसीलों के उत्तरी भाग भी इस बोली के क्षेत्र से बाहर हैं। इस प्रकार हाड़ौती विशाल भूभाग की बोली है जिसके बोलनेवालों की संख्या सन् १९५१ की जनगणना के अनुसार ८१४८५९ है।[4]

'प्रति बारह कोस पर बोली बदलती है' की मान्यता के अनुसार इतने विशाल भूभाग की बोली में सर्वत्र एकरूपता नहीं पाई जाती। तत्कालीन कोटा और बूँदी के राज्य क्रमशः दक्षिणी हाड़ौती और उत्तरी हाड़ौती की सीमा बनाते हैं। हाड़ौती के दोनों रूपों में इस प्रकार अंतर मिलता है—

१. ग्रियर्सन, लिंग्विस्टिक सर्वे आफ इंडिया, भा० २, पृ० २०१।

२. 'हाड़ौत', एक काल्पनिक शब्द है और इसकी उत्पत्ति हाड़ा + पुत्र > हाड़ा + हाड़ाउत > ऊत हाड़ौत से हुई है। इसकी कल्पना का आधार रामसिहोत आदि शब्द रहे हैं, जो राजस्थान की क्षेत्रीय जाति में परंपरागत हैं।

३. प्रस्तुत लेखक—हाड़ौती बोली और साहित्य—बोली खंड, पृ० १०।

४. सेंसस आफ इंडिया, पेपर १, १९५३, पृ० १२।

१. उत्तरी हाड़ौती में पुरुषवाचक सर्वनामों में उत्तम पुरुष और मध्यम पुरुष में 'मैं' और 'तै' रूप प्रायः सुनाई पड़ते हैं, जो दोनों वचनों में प्रयुक्त होते हैं। पर अन्वित क्रिया सदैव बहुवचन में रहती है। दक्षिणी हाड़ौती मे म्हू, तू या थू एकवचनीय रूप हैं और म्हां, थां बहुवचन के रूप हैं, जो उत्तरी हाड़ौती क्षेत्र मे भी प्रयुक्त होते हैं।

२. दक्षिणी हाड़ौती के सामान्य भविष्यत् के रूप क्रिया के वर्तमान निश्चयार्थ के साथ गो, गूं, या गा आदि प्रत्यय जोड़ने से संपन्न होते हैं, पर उत्तरी हाड़ौती के ऐसे रूप धातु शब्दों के साथ सी,-स्यू आदि प्रत्ययों के योग से सपन्न होते है, यथा, तू जावैगो (दक्षिणी हाड़ौती) और तू जासी (उत्तरी हाड़ौती)

३. दक्षिणी हाड़ौतो के स्थानवाचक क्रियाविशेषण ह्या, ज्यां, त्या आदि हैं और और स्थान संकेतवाचक क्रियाविशेषण अठी, कठी आदि हैं। उत्तरी हाड़ौती मे इनके स्थान पर उठै, कठै आदि प्रयुक्त होते हैं।

हाड़ौती बोली की कुछ ध्वनिगत और रूपात्मक प्रमुख विशेषताएं इस प्रकार हैं—

१. स्वरगत विशेषताएँ

१. हाड़ौती बोली मे आठ स्वर प्रयुक्त होते हैं। वे हैं—अ, अै[5], आ, ई, उ, ऊ, ए तथा ओ। इन स्वरों मे अै अर्द्ध संवृत, दीर्घ, मध्य स्वर है, जो 'आ' विवृत, दीर्घ, मध्यस्वर से भिन्न है। इसे ह्रस्व 'अ' का दीर्घ, दीर्घ रूप कहा जा सकता है। 'अ' को 'आ' का ह्रस्व रूप व्याकरणिक आवश्यकता से माना है।[6] 'अ' शब्द के आदि में प्रयुक्त नहीं होता और न स्वतंत्र रूप से ही शब्द मे प्रयुक्त होता है।

५. उपर्युक्त लिपि-चिह्न के अभाव में संकेत से काम लिया गया है।

६. 'यदि ह्रस्व 'अ' को दीर्घ 'आ' से इस दिशा में भिन्न समझा जाता तो 'तुल्यास्य प्रयत्नं सवर्णम्' (१-१-६) बाधक हो जाता और उक्त सूत्रगत एकरूपता समाप्त हो जाती। ह्रस्व 'अ' को अपना स्वाभाविक अधिकार, जो अब तक पाणिनि की अष्टाध्यायी में बाधित था, दिलाने के लिये वे 'अ अ इति' (८।४।६८) सूत्र की सृष्टि करते हैं, जिससे तात्पर्य यह है कि अब जब पुस्तक समाप्ति पर है तब ह्रस्व 'अ' को संवृत मानना चाहिए जिसे अब तक आवश्यकतावश विवृत माना गया था।' डा० बैलेंटाइन-श्रीशचंद्र वसु, सिद्धांतकौमुदी, पृ० ११।

२. हाड़ौती में 'इ', 'ऐ' तथा 'औ'[७] स्वरों का प्रयोग नहीं मिलता यथा आमली (हि० इमली), अस्यो (हि० ऐसा) तथा वोरत् (हि० औरत)। हाड़ौती में 'इ' स्वर का एकांत लोप उसकी ऐसी विशेषता है जो उसे अन्य राजस्थानी बोलियों से पृथक कर देती है, जैसे हा० मनरव्, मार० मिनरव, हा० कस्तूरी जय० किस्तूरी।

३. 'अ' स्वर का उच्चारण असंयुक्त अंत्य व्यंजन रूप में तथा दो दीर्घ स्वरों के मध्य में नहीं होता (यद्यपि लिखा जाता है) यथा, रांगस्, बेल्, छापको (चाबुक), तोबूरो।

४. हाड़ौती में स्वर संकोच की प्रवृत्ति आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं की अपेक्षा अधिक विकसित है, यथा—ह्यां (हि० यहाँ), ग्या (हि० गया), वोतार (हि० अवतार)।

५. हाड़ौती स्वर ध्वनियों में अकारण अनुनासिकता के अनेक उदाहरण मिलते हैं, यथा घाँस् (हि० घास), रागस् (सं० राक्षस), काँच् (हि० काच), दैंत् (दैत्य)।

२. व्यंजनगत विशेषताएँ

१. हाड़ौती में प्रयुक्त ३६ व्यंजन ध्वनियों में 'ल्' तथा 'व्' ऐसे व्यंजन हैं जो हिंदी में प्रयुक्त नहीं होते हैं, पर ये दोनों व्यंजन राजस्थानी बोलियों में मिलते हैं। हाड़ौती का 'ल्' अल्पप्राण, सघोष, उत्क्षिप्त, पार्श्विक, मूर्द्धन्य व्यंजन है और इसका व्यवहार शब्द के आदि में नहीं होता। चालीस् रूपाली आदि शब्दों में में यह प्रयुक्त होता है।, 'व्' व्यंजन द्वयोष्ठ्य, सघोष, अर्द्धस्वर है और इसका उच्चारण अंगरेजी 'व्ही' के समान होता है। इसका प्रयोग बहुत कम शब्दों में होता है, यथा वाने, ल्वारी (लुहारी)

२. हाड़ौती अनुनासिक व्यंजनों में 'ङ्' का स्वतंत्र रूप से प्रयोग नहीं होता और शब्द के आदि में यह प्रयुक्त होता है—यथा, जङ्ग्, (युद्ध) नङ्ग् घङ्ग् (नग्न)। 'ञ' हाड़ौती कक्का (व्यंजन माला) में स्वीकृत है [नन्नो (ञ्ञो) न्हांडो चंदरमा], इसका प्रयोग संयुक्त या असंयुक्त व्यंजन के रूप में किसी भी शब्द में नहीं सुना जाता।

३. हाड़ौती में मध्य व्यंजन-संयोग के तो विविध रूप मिलते हैं, पर आदि-व्यंजन-संयोग में उत्तर व्यंजन अर्द्धस्वर होता है, यथा, फ्याली (पहेलिका), स्याली (शकली), फ्वारो (फव्वारा)।

७. यद्यपि 'हाड़ौती' शब्द में यह स्वर नहीं है।

४. हाड़ौती मे महाप्राण ध्वनि शब्द में एक ही बार प्रयुक्त होती है (अनुकरणात्मक शब्द इसके अपवाद हैं) और वह शब्द के आदि की ओर बढ़ने की प्रवृत्ति अपनाते हुए, यथा हाती (हि० हाथी), ख्वां (हि० कहां), संज्या या सांज् (संध्या), फाव्णू (हि० पाहुन)। अनेक शब्दों में अकारण महाप्राणता भी पाई जाती है, यथा फाणी (हि० पानी), छाप्को (हि० चाबुक)।

३. रूपगत विशेषताएँ—

१. हाड़ौती शब्दरचना में 'ड़्' प्रत्यय का बड़ा महत्व है। यह स्वार्थ प्रत्यय शब्द की प्रियता, घृणा या लघुता सूचकता में प्रयुक्त होता है, जैसे, मुन्ड़ो (मुन्), न्हारड़ो (न्हार)।

कहीं-कहीं इसके स्थान पर 'ट्' प्रत्यय भी प्रयुक्त होता है, यथा, तेल्टो (तैली), बलाव्टो (बलाव्)।

वस्तुतः ये दोनों प्रत्यय एक दूसरे के रूपांतर हैं। प्राकृत में प्रयुक्त 'ट्' प्रत्यय राजस्थानी मे 'ड़्' भी बन गया है। अपभ्रंश में भी 'ड़' के प्रयोग की बहुलता थी।[८]

२. हाड़ौती संज्ञा 'शब्दें के एकवचन पुंलिंग रूपों की विशेषता उनकी ओकारांतता है, जैसे-घोड़ो, छोरो, फाथो (पैर का अग्र भाग)। यह विशेषता समस्त राजस्थानी बोलियों म मिलती है तथा ब्रजभाषा में भी पाई जाती है। हाड़ौती संज्ञा शब्द तो विभिन्न स्वरांत या व्यंजनांत हो सकते है, पर सप्रत्यय गुणवाचक विशेषणों मे यह प्रवृत्ति नियमित है, यथा – काल्ो घोड़ा, धोल्ो बैल्, रातो तेली।

३. हाड़ौती मे दो लिंग होते हैं—पुंलिंग और स्त्रीलिंग। यदि संज्ञा शब्दों की ओकारांतता पुंलिग की द्योतक है तो उनकी ईकारांतता स्त्रीलिंग की द्योतक है, पर कर्तृवाचक पुंलिंग शब्द ईकारांत होते हैं, यथा, तेली, माल्ी। हाड़ौती का प्रमुख स्त्री-प्रत्यय ई है, जैसे—बांदरा-बांदरी, स्वाल्यो स्वाल्ी। अण-आणी, आई प्रत्यय भी पुंलिंग शब्दों से स्त्रीलिंग शब्द बनाने के लिये प्रयुक्त होते हैं, यथा, मोग्यो-मोगण, पंडत्-पंडताणी, लोग-लुगाई। शेष, वण्, णी आदि प्रत्यय इन्हीं प्रत्ययों में से किसी एक के रूपांतर हैं।

४. हाड़ौती में दो वचन मिलते हैं। बहुवचन का प्रत्यय 'आ' है, जो स्त्रीलिंग शब्दों में 'आँ' रूप में मिलता है, यथा, छोरो-छोरा, छोरी-छोरयाँ,

८. नामवर सिंह—हिंदी के विकास में अपभ्रंश का योग, पृ० ५० ।

नाई-नायाँ। प्रा० भा० आ० तथा म० भा० आ० में जहाँ स्त्रीलिंग शब्द में 'इ' या 'ई' स्वर ध्वनि थी वह हाड़ौती मे आकर लुप्त तो हो गई, पर बहुवचन शब्दों में अपना अस्तित्व बनाए रही –मालण्यां, नाण्यां आदि ऐसे ही उदाहरण है। व्यक्तिवाचक संज्ञा शब्दों के बहुवचन का प्रत्यय—'होण्' है, जैसे, गोप्याहोण्।

५. हाड़ौती कारक रूपों की प्रक्रिया अत्यत सरल है। शब्द-रूपों मे दो अविकारी तथा दो विकारी रूप मिलते हैं। विकारी रूपो के साथ विभिन्न परसर्ग जुड़कर भिन्न भिन्न कारकीय संबंधों को प्रकट करते हैं। अविकारी एक वचन का प्रत्यय शून्य० है और बहुवचन का—'आ' है। जिनसे छोरो और छोरा रूप संपन्न होते हैं। स्त्रीलिंग के ऐसे बहुवचन रूपां का प्रत्यय 'आ' है जो शब्द के अंत्य स्वर के मात्रा-भेद से—'या' या 'वा' रूप ले लेता है। विकारी पुंलिंग शब्द के एक वचन का 'आ' प्रत्यय है और बहुवचन का—'आं' जिनसे छोरा और छोरयां रूप बनते हैं।

हाड़ौती मे रूपो की अल्पता से जो अस्पष्टता आ सकती थी उसकी पूर्ति परसर्गों द्वारा हो जाती है। हाड़ौती के परसर्ग हैं—

कर्त्ता – ने

कर्म एवं संप्रदान – ने, ई

करण और अपादान – सूं, से

संबंध–के, का, की को, रे, रा, री, रो, णे, णा, णी णां

अधिकरण – मे, पे,

संबंधकारक के परसर्गों की चार श्रेणियाँ है जिनसे भेद्य के लिंग वचन और कभी-कभी कारक रूप का बोध इस प्रकार होता है—

१ – ओकारांत परसर्ग—भेद्य पुंलिंग, एक वचन और अविकारी कर्ता।

२ – आकारांत परसर्ग—भेद्य पुलिंग, एक वचन या बहुवचन तथा अविकारी कर्ता के अतिरिक्त कारक रूप।

ईकारांत परसर्ग-भेद्य स्त्रीलिंग, सभी वचन और कारकरूप।

ओकारांत परसर्ग-भेद्य अविकारी रूप मे।

र-कार-युक्त तथा ण कार-युक्त परसर्ग तो सर्वनामों के साथ ही प्रयुक्त होते हैं और क-कारयुक्त परसर्ग शेष नामिकों मे प्रयुक्त होते हैं।

६. सर्वनामों के प्रायः सभी रूप हाड़ौती में मिलते हैं। पुरुषवाचक अन्य पुरुष सर्वनामों तथा दूरवर्ती निश्चयवाचक सर्वनामो के रूप एक ही हैं। वे हैं— ऊ, वे, वा। इसी प्रकार निज वाचक, 'आप' और आदर सूचक 'आप' अपने प्रातिपदिक तथा अन्य रूपों मे समान हैं पर निजवाचक सर्वनाम के साथ संबंध कारक में रौ, णी आदि परसर्ग-प्रयुक्त होते हैं, जब कि आदरसूचक सर्वनाम के साथ

इसी कारक में को, का आदि परसर्ग प्रयुक्त होते हैं। हाड़ौती में निजवाचक सर्वनाम के रूप में पुरुषवाचक सर्वनामों के प्रयोग भी प्रायः मिलते है, यथा, तू थारो काम कर, म्हूँ म्हारा घर जाऊँ ।

७. हाड़ौती गुण वाचक विशेषणों के बने रूप मिलते हैं—

क. सप्रत्यय गुणवाचक विशेषण, जिसका प्रत्यय-विधान इस प्रकार है–

अविकारी पुंलिग एक वचन में—ओ ।

विकारी पुंलिग शेष रूपों में—आ ।

स्त्रीलिंग के सभी रूपों में—ई ।

इनके उदाहरण हैं—कालो बैल्, ऊँचा मकान्, धोली गाय ।

ख. अप्रत्यय गुणवाचक विशेषण प्रायः व्यंजनांत होते हैं, जैसे, लाल् फाग्ड़ी (पगड़ी), लाल् स्यापो (साफा), पर संज्ञा शब्दों से बने ऐसे विशेषण स्वरांत होते हैं, यथा देशी गाय् या बैल् ।

हाड़ौती मे समूहवाची संख्यावाचक विशेषणों मे जोड़ो (दो का समूह), गंडो (चार का समूह) और पचोल (पाँच का समूह) उल्लेखनीय हैं। संख्या की अनिश्चितता प्रकट करने के लिए बीसेक्, दसेक् की प्रणाली अपनाई जाती है।

८. क. हाड़ौती के अस्तिवाचक क्रिया रूप छै, छौ आदि उसे पश्चिमी तथा पूर्वी राजस्थानी की अनेक बोलियों से पृथक कर देते हैं। इस दृष्टि से वह जयपुरी के समीप है। डा० ग्रियर्सन ने ऐसी समानताओं को ध्यान मे रखकर हाड़ौती को जयपुर की उपबोली के रूप मे स्वीकार किया हैं, पर दोनों में ऐसी अनेक असमानताएँ हैं, जो उक्त संबंध स्थापन में बाधक है ।

ख. हाड़ौती के वर्तमान निश्चयार्थ का विकास मे हिंदी के समान संस्कृत 'शतृ' कृदंत से न होकर लट् लकार से हुआ है। इसलिये ऊ जावै, ऊ दौड़े रूप हाड़ौती मे मिलते हैं। इसी भाव को व्यक्त करने के लिये अस्तिवाचक सहायक क्रिया का वर्तमान निश्चयार्थ का रूप भी प्रयुक्त होता है, यथा, ऊ जावे छे, ऊ दौड़े छे ।

ग. हाड़ौती का भूत निश्चयार्थ संस्कृत के भूतकालिक कृदंत से बना है। यहाँ क्रिया के लिंग-वचन सकर्मक क्रिया मे कर्म के अनुसार होते हैं और कर्ता तृतीया मे प्रयुक्त होता है। यथा, मने रोटी खाई, पर वर्तमान निश्चयार्थ में इससे भिन्न स्थिति है। यथा, म्हूँ रोटी खाऊँ छूँ। अकर्मक में कर्ता का अन्वय क्रिया के साथ होता है। यथा, म्हूँ दौड्यो, वा दौड़ी ।

घ. हाड़ौती क्रियार्थक संज्ञा धातु के साथ—'बो' प्रत्यय या 'णू' प्रत्यय जोड़ने से संपन्न होती है, यथा, करबो, करणू ।

ङ. वर्तमान कालिक कृदंत प्रत्यय 'तो' (पु०) और 'ती' (स्त्री०) है

और भूतकालिक कृदंत के प्रत्यय 'यो' (पु०) और 'ई' (स्त्री) है, जो धातु के साथ इस प्रकार लगते हैं—उग तो, खा-ती, खा-यो, खाई। काल रचना में ये कृदंत प्रयुक्त होते हैं। इनके अतिरिक्त *मुख्य क्रिया के वर्तमान निश्चयार्थ* के रूप भी सहायक होते हैं। इनके उदाहरण हैं—ऊचालतो होवैगो (भविष्य-अपूर्ण निश्चयार्थ), ऊचाळ्यो छै (भूत-पूर्ण निश्चयार्थ) तथा ऊचाले छै (वर्तमान पूर्ण-निश्चयार्थ)।

च. प्रेरणार्थक धातु रूपों मे—'आ' या 'वा' प्रत्यय मूल धातु के साथ लगते हैं। 'आ' के योग से सामान्य प्रेरणार्थक धातु बनती है, जब कि 'वा' प्रत्यय के योग से द्विगुणित प्रेरणार्थक धातु बनती है, यथा, पका-पक्वा, चुरा-चुर्‌वा।

छ. पूर्वकालिक क्रिया के हाड़ौती के रूप दो मिलते हैं—

धातु 'के' प्रत्यय के योग से संपन्न।

धातु 'अर्' प्रत्यय के योग से सपन्न।

इनके उदाहरण हैं—खाके, खार्। यदि धातु की द्विरुक्ति के उपरांत मे, प्रत्यय प्रयुक्त हों तो उससे क्रिया की पुनः पुनःआवृत्ति का संकेत मिलता है, यथा, ऊ रो-रोर् थाक् ग्यो।

ज. हाड़ौती मे सयुक्त क्रियाएँ भी पाई जाती हैं, जो मुख्य धातुके पूर्वकालिक कृदंत, भूतकालिक कृदंत, वर्तमान कालिक कृदंत और क्रियार्थक संज्ञा के साथ गौण क्रिया के काल रूपों को जोड़ने से बनती हैं, यथा, भाग्‌ग्यो, चालबू करे, देखतो रीजे और भागयो लावै।

हाड़ौती बोली है और बोली में वाक्य लम्बाकारी होते हैं। इसलिये मिश्र तथा संयुक्त वाक्य कम सुनने में आते हैं, साधारण वाक्य ही प्रायः प्रयुक्त होते हैं, जो एक शब्द से लेकर छै-सात शब्दों तक के हो सकते हैं। यद्यपि बोलचाल मे वाक्य मे शब्द का स्थान निश्चित है—कर्ता + अन्य कारक रूप + कर्म + क्रिया, पर अर्थ-भेद व बल से स्थानों में परिवर्तन होता रहता है। म्हने रोटी खाई (सामान्य कथन), रोटी म्हने खाई (कर्म पर बल), वा आई (सामान्य कथन), आई नै वा (क्रिया पर बल)।

शब्द-क्रम बदलने पर कुछ अवस्थाओं में अर्थ बदल जाता है, जैसे, न्हार् कुत्तो खावे छे और कुत्तो न्हार् खावे छे।

वाक्यरचना के कुछ नियम इस प्रकार है—

१. भेद्य शब्द भेदक के पास रहता हैं—चौंदरा को बच्चो।

२. निजवाचक सर्वनाम पुरुषवाचक सर्वनाम के बाद में आता है—

तू आप्णों काम् कर।

३. विशेषण विशेष्य से पूर्व आता है—कालो घोड़ो।

४. संयुक्त क्रिया में प्रधान क्रिया गौण क्रिया से पूर्व आती है—उठ्‌बैठ्यो।

चयन

स्मृतियों में व्यवहारविधि

न्यायमूर्ति श्री हरिश्चंद्रपति त्रिपाठी

•

[प्रयाग उच्च न्यायालय–शताब्दि - संस्मारक ग्रंथ में प्रकाशित निबंध का छायानुवाद ।]

सामाजिक व्यवस्था को ठोस आधार प्रदान करनेवाले मौलिक सिद्धांत, सत्य तर्क या प्रमाण और न्याय सदा अमिट और अपरिवर्तित हैं। हर युग और काल में वे वही रहे हैं और वही रहेंगे। प्रो० मैक्समूलर के शब्दों में वैदिक संहिताओं में (१०,००० से ५,००० ई० पू०) ऋषियों द्वारा प्रणीत ऋतम् अथवा सत्यम् के गान 'मानवता की तोतली वाणी' के प्रतिनिधि हैं। प्राचीन गुरुकुलों से सामाजिक आचार के प्रति उन्मुख निर्गमनार्थी छात्रों को प्रथम तथा सर्वोच्च आदेश मिलता था—सत्यान्न प्रमदितव्यम्—सत्य मार्ग से कभी विचलित न होना।

स्मृतियों ने सत्यान्नास्ति परो धर्मः (सत्य का परिपालन आचरण की सर्वोच्च संहिता है) कहकर सत्य की महत्ता की संपुष्टि की। उपनिषदों ने कहा एकं सत्यम् विप्रा बहुधा वदन्ति—सत्य एकरूप होते हुए भी अनेकरूप होता है। धर्म की गति बड़ी सूक्ष्म है धर्मस्य सूक्ष्मो गतिः। इसे पाने के लिये पारखी दृष्टि की आवश्यकता है। सत्य क्या है, असत्य क्या है? मनुष्य को सत्य कब बोलना चाहिए? महाभारत मे जब यह प्रश्न युधिष्ठिर ने पूछा तो भीष्म ने कहा—

> तादृशोऽयमनुप्रश्नो यत्र धर्मः सुदुर्विदः।
> दुष्करं चापि संख्यातुं तर्केणात्र व्यवस्यति ॥

[तुमने जो प्रश्न मुझसे किया है, वह कठिन है। क्योंकि धार्मिकता या सत्य क्या है, यह कहना कठिन है। इसका वर्णन करना सहज नहीं है। —महा० शा० अ० १०५।६]।

वे आगे कहते हैं—

> सत्यस्य वचनं साधु न सत्याद्विद्यते परम्।
> यत्त लोके सुदुर्ज्ञेयं तत्ते वक्ष्यामि भारत॥

भवेत्सत्यं न वक्तव्यं वक्तव्यमनृतं भवेत्।
सत्यानृतं भवेत्सत्यं सत्ये वाप्यनृतं भवेत्॥

[सत्य कहना धर्म है। सत्य से बड़ा कुछ नहीं। परंतु जहाँ असत्य सत्य के ऊपर प्रतिष्ठित रहे, वहाँ सत्य नहीं कहना चाहिए; बल्कि असत्य ही कहना चाहिए। —महा० शा० अ० १०९।४, ४ तथा ५।]

अरस्तू का कथन है—'विधि या तो सार्वदेशिक होती है या विशिष्ट। विशिष्ट विधि में वे लिखित विधान होते हैं जिनके द्वारा मनुष्य शासित होते हैं। सार्वदेशिक विधि में वे अलिखित विधान होते हैं जो सर्वजन-संमत होते हैं।' सामान्य अभिव्यंजना मे विधि उस निश्चित नियमावलि को कहते हैं जिसका निर्माण समाज के द्वारा, समाज के लिये, समाज के सदस्यों के आचरण को नियमित करने के निमित्त उसके पूर्णतम विवेक के द्वारा होता है। विधि का प्राथमिक उद्देश्य है सत्यासत्य का विनिश्चय, न्याय की चरितार्थता तथा न्याय पर आधारित समाजव्यवस्था का पोषण। विविधशास्त्र किसी जाति की सर्वसंमत आचार संहिता के परिपालनार्थ प्रशस्त मार्ग प्रदान करता है। महाभारत का कथन है—

धारणाद्धर्ममित्याहुः तस्माद्धारयते प्रजाः।

सुनिश्चित मान्यताप्राप्त नियमावली जिसे साररूप में विधि कहते हैं, न्याय-व्यवस्था में सहायक होती है क्योंकि यह व्यक्तिगत पथभ्रंश के विरुद्ध सुरक्षा प्रदान करती है। सार्वजनिक रूप से उद्घोषित सिद्धांतों की संपुष्टि पर्याप्त मात्रा में न्याय-व्यवस्था की रक्षा करती है। विधि किसी व्यक्ति का विचार नहीं करती। अतः इसे सुनिश्चित और एकरूप होना पड़ता है। अरस्तू ने कहा है—'विधि से अधिक बुद्धिमान की कल्पना ही वह वस्तु है जिसका निषेध सभी परिनिष्ठित विधियों में हुआ है।' न्यायवितरण में वैधिक सिद्धांतों की बाध्यता के लिये केवल एकरूपता और निश्चितता ही अपेक्षित नहीं है वरन् उनके लागू करने में व्यवहार या प्रकृया भी आवश्यक है। इस प्रक्रिया और साक्ष्य के निश्चित नियमों का बड़ा महत्व है। इनसे न्यायालय को सत्य की गुत्थियाँ सुलझाने में, विधि के ठोस नियमों को लागू करने में और विवादग्रस्त प्रश्नों का निर्णय करने में सहायता मिलती है।

मानव सभ्यता के उषाकाल में (प्रायः १००० से ५०० ई० पू० के मध्य) उदित होनेवाले प्राचीन स्मृति साहित्य मे हमें व्यावहारिक तथा आपराधिक प्रक्रिया की विशद नियमावलि तथा साक्ष्य के विस्तृत नियम मिलते हैं। इनमें कुछ व्यवस्थाओं का, आधुनिक साक्ष्य तथा व्यवहार विधान के समानांतर नियमों के साथ ध्यान देने योग्य साम्य है। विस्तार भय से यहाँ उनका विशद सारांश देना संभव नहीं। परंतु

उदाहरण स्वरूप मनु के धर्मशास्त्र (डा० गंगानाथ झा संस्करण) से कतिपय उद्धरण दिए जा रहे हैं जो स्मृतियों में अति प्राचीन तथा प्रामाणिक हैं।

न्यायालय का गठन

सोऽस्य कार्याणि पश्येत सभ्यैरेव त्रिभिर्वृतः।
सभामेव प्रविश्याग्र्यामासीनः स्थित एव वा॥

– अ० ८, श्लो० १०

[न्यायाधीश न्यायालय में तीन व्यवस्थाकुशल पंडितों के साथ गुरु गंभीर मुद्रा में प्रवेश करे और न्यायपीठ पर आसीन होने के उपरांत वादों का परीक्षण करे।]

आधुनिक खुले न्यायालय तथा जूरी विधान के साथ यह व्यवस्था तुलनीय है।

वाद का आरंभ

धर्मासनमधिष्ठाय संवीताङ्गः समाहितः।
प्रणम्य लोकपालेभ्यः कार्यदर्शनमारभेत्॥

—अ० ७ श्लो० २३।

[भली प्रकार वस्त्र धारण किए हुए शरीर तथा विकाररहित चित्त से न्याय पीठ पर बैठकर न्यायासन के अधिष्ठातृ देवता को नमस्कार कर (न्यायाधीश) विचार में प्रवृत्त हो।]

यहाँ न्यायाधीश की पोशाक तथा न्यायिक संतुलन का महत्व ध्यान देने योग्य है।

न्यायप्रक्रिया (व्यहारविधि) संबंधी सामान्य नियम

सत्यमर्थं च संपश्येद् आत्मानम् अथ साक्षिणम्।
देशं रूपं च कालं च व्यवहार विधौ स्थितः॥
यथानयत्यसृक्पातैः मृगस्य मृगयुः पदम्।
नयेत्तथाऽनुमानेन धर्मस्य नृपतिः पदम्॥

—वही, श्लो० ४४–४५

[न्याय-कार्य में संलग्न न्यायाधीश सत्य पर, उद्देश्य पर, अपने पर, साक्षी तथा स्थान एवं काल और परिस्थिति पर दृष्टि रखे। जिस प्रकार अहेरी मृग की रक्त-बिंदुओं तथा पदचिह्नों के सहारे अन्वेषण करता है उसी प्रकार निष्कर्ष के द्वारा न्यायाधीश को सत्य का अन्वेषण करना चाहिए। दूसरे शब्दों में न्यायाधीश उन्मुक्त मस्तिष्क के साथ विचाराधीन विषय, उसके वातावरण, उसकी परिस्थितियों तथा साक्ष्य पर विवेकपूर्ण दृष्टि रखे, (इस प्रकार) स्पष्ट (साक्षात्) तथा परिस्थित्यात्मक साक्ष्य एवं तर्क पुष्ट निष्कर्षों के आधार से वह सत्य तक पहुँच सकेगा।]

प्रमाण

आप्ताः सर्वेषु वर्णेषु कार्याः कार्येषु साक्षिणः।
सर्वधर्मविदोऽलुब्धाः विपरीतांस्तु वर्जयेत् ॥
नार्थ सम्बन्धिनो नाप्ता न सहाया न वैरिणः।
न दृष्ट दोषाः कर्तव्या न व्यध्याता न दूषितः ॥

—अ० ८, श्लो० ६१-६६

[समस्त व्यावहारिक वादों में जाति-भेद का विचार किए बिना विश्वसनीय, चारित्र्य से अवगत तथा पक्षपात या रागद्वेष से मुक्त जनों को साक्षी बनाना चाहिए। निहितस्वार्थजन, वादी के सहायक अथवा सबंधी, सिद्ध अनाचारी, अवयस्क, मद्याभिभूत अथवा नष्टप्रज्ञ अथवा किसी राग या द्वेष से अनुतप्त भावनावाले, गृहत्यागी (विरक्त) या न्यायाधीश साक्ष्य में न बुलाए जायँ। यदि उचित साक्षी न मिल सकें तो वाद में अवयस्क या निहित स्वार्थ जन साक्ष्य दे सकते हैं। यदि घर के भीतर अथवा घने जंगल में अपराध हुआ हो अथवा शारीरिक क्षति की अवस्था में घटना का ज्ञान रखनेवाला कोई व्यक्ति किसी पक्ष से साक्ष्य दे सकता है।]

साहसेषु च सर्वेषु स्तेय संग्रहणेषु च।
वाग्दण्डयोश्च पारुष्यं न परीक्षेत् साक्षिणः ॥

[हिंसात्मक आपराधिक वादों, चोरी, व्यभिचार, आक्रमण आदि में साक्षियों के आचरण का परीक्षण नहीं किया जायगा।]

यह व्यवस्था साक्ष्य अधिनियम की धारा ५४ से तुलनीय है।

प्रमाण स्पष्ट होना चाहिए

समक्ष दर्शनात्साक्ष्यं श्रवणाच्चैव सिध्यति।
तत्र सत्यं ब्रुवन्साक्षी धर्मार्थाभ्यां न हीयते ॥

—श्लो० ७४।

[जिस व्यक्ति ने वाद की संगति में जैसा देखा या सुना हो उसे ठीक वही कहना चाहिए जो उसने देखा या सुना हो।]

प्रमाण संगत हो

स्वभावेनैव यद्ब्रूयुस्तद् ग्राह्यं व्यावहारिकम्।
अतोयदन्यद्विब्रूयुः धर्मार्थं तदपार्थकम् ॥

—श्लो० ७८

[विचार्य विषय की संगति में साक्षी जो कुछ स्वभावतः कहे केवल उसे ही ग्रहण करना चाहिए, आचार आदि की दृष्टि से वह जो कुछ कहता है वह व्यर्थ है।]

साक्षियों का परीक्षण

> सभान्तः साक्षिणः प्राप्तानर्थिप्रत्यर्थि सन्निधौ।
> प्राड् विवाकोऽनुयुंजीत विधिनानेन सान्त्वयन्॥
>
> —श्लो० ७९

[शपथ ग्रहण के उपरात न्यायाधीश वादी प्रतिवादियों की उपस्थिति में साक्षी से मधुर भाषा मे प्रश्न करता हुआ कहे कि वाद के सबध में वे जो कुछ जानते हो निर्बाध तथा सत्यतः कहे ।]

साक्ष्य का मूल्यांकन

> बाह्यै विभावयेऽल्लिङ्गै भावमन्तर्गतं नृणाम्।
> स्वरवर्णाङ्गिताकारैश्चक्षुषा चेष्टितेन च॥
> आकारैरिङ्गितैर्गत्या चेष्टया भाषितेन च।
> नेत्र वक्त्र विकारैश्च गृह्यतेऽन्तर्गतं मनः॥
>
> —श्लो० २५-२६

[वह (न्यायाधीश) बाहरी भंगिमा, स्वर के उतार चढ़ाव, चाल ढाल तथा रंग ढग एव नेत्रों मे दृष्टि डालकर साक्षी की अंतर्मनस्थिति का अध्ययन करे, क्योंकि इस अंतर्मन के उतार चढ़ाव नेत्रो मे झलकते हैं ।]

साक्षियों की चाल ढाल, रंग ढंग के द्वारा न्यायाधीश द्वारा निष्कर्ष ग्रहण करने के संबंध मे यहाँ विस्तृत निर्देश हैं ।

एकांगी आदेश

किसी व्यावहारिक वाद मे यदि कोई प्रतिवादी तीन पखवारों तक, कोई उचित कारण बताए बिना, आरोपित प्रश्नों का उत्तर देने के लिये उपस्थित न हो तो उसके विरुद्ध आनुपातिक व्यय सहित एकागी आदेश दे दिया जाय।

जहाँ वाद मे मौखिक या लिखित साक्ष्य न हो वहाँ उभय पक्ष को शपथ दिलाकर वाद का निर्णय किया जा सकता है।—श्लो० १०७ और १०९

निर्णय

> जाति जानपदान् धर्मान् श्रेणी धर्मांश्च धर्मवित्।
> समीक्ष्य कुलधर्मांश्च स्वधर्मं प्रतिपादयेत्॥

[धर्मज्ञ न्यायाधीश प्रत्येक वादी के संबध में प्रांतीय, नैगम तथा कुलधर्मों का निरीक्षण परीक्षण करते हुए अपनी व्यवस्था (निर्णय) निश्चित करे ।]

दूसरे शब्दों मे वादों के निर्णय मे उपयुक्त विधान को लागू करने मे न्यायाधीश प्रांतीय विधान तथा नैगमिक और पारिवारिक विधानों को ध्यान में रखे।

आपराधिक वाद : दंडव्यवस्था

अनुबन्धं परिज्ञाय देशकालौ च तत्त्वतः।
सारापराधौ चालोक्य दण्डम् दण्ड्येषु पातयेत् ॥
—श्लो० १२६

[अपराध का उद्देश्य, समय और स्थान निश्चित करने के उपरांत तथा कब और कहाँ अपराध किया गया, इसको तथा अपराधी की दशा एवं अपराध के स्वरूप को ध्यान में रखते हुए न्यायाधीश अपराधी को दंड प्रदान करे।]

आपराधिक आरोपों में न्यायकर्ता न्यायाधीश के दृष्टिगत रहने योग्य सभी संगत विचारणीयों का पर्याप्त उल्लेख इस श्लोक में हुआ है।

वाग्दण्डं प्रथमं कुर्यात् धिक्दण्डं तदनन्तरम्।
तृतीयं धनदण्डम् तु वधदण्डम् अतः परम् ॥
—श्लो० १२६

[सर्वप्रथम वह चेतावनी का दंड दे, तदुपरांत भर्त्सना, तीसरे प्रकार में अर्थदंड और अंत में शारीरिक दंड की व्यवस्था करे।]

यहाँ वधदंड का अभिप्राय शारीरिक दंड से है, अनिवार्यतः प्राणदंड से नहीं। इससे स्पष्ट है कि शारीरिक दंड की व्यवस्था चरम उपाय के रूप में ही थी, जब चेतावनी, भर्त्सना और अर्थ दंड न्याय के उद्देश्य में अपर्याप्त हों। अपराधियों के प्रति इससे अधिक मानवीय विधि का मिलना कठिन है।

मनु ने १८ शीर्षकों में वैधिक विवाद के आधारभूत हेतुओं का विशद वर्णन किया है—संपत्ति, ऋण, अनुबंध, पण्यविक्रय, विभाजन, साझेदारी, स्वामि-सेवक-विवाद, भूस्वामी तथा कृषक विवाद, सीमासंबंधी विवाद तथा आपराधिक प्रहार के आरोप, चोरी, हिंसा, व्यभिचार, जुआ तथा शर्त लगाना।

मनु से कई शताब्दी परवर्ती नारद और बृहस्पति वैधिक व्यवहार का पूर्णतर वर्णन एवं विस्तृत सूची प्रस्तुत करते हैं। नारद ने वादपत्र के सात दोष गिनाए हैं। बृहस्पति ने वादपत्र, लिखित उत्तर तथा विरोधी पक्ष को दी जानेवाली प्रश्नावली की विधि पर विचार किया है। बृहस्पति ने 'युक्ति' अर्थात् वाद-विवादों में न्यायिक सिद्धांतों के प्रयोग में तर्क के औचित्य पर बल दिया है। उनका कथन है, 'उचित तर्क से रहित होकर केवल शुद्ध लिखित विधान के आधार से किए गए न्याय से स्वयं धर्म की हानि होती है।' यथा—

केवलं शास्त्रमाश्रित्य न कर्तव्यो विनिर्णयः।
युक्तिहीने विचारे तु धर्महानिः प्रजायते ॥

विभिन्न स्मृतियों (याज्ञवल्क्य, नारद, वसिष्ठ आदि) में वर्णित साक्ष्य-विधान तथा वैधिक व्यवहार का विशद वर्णन इस निबंध की सीमा मे नहीं है। कतिपय उदाहरणों द्वारा यहाँ यह दिखाने का प्रयास किया गया है कि प्राचीन हिंदू धर्मशास्त्रकार न्यायव्यवस्था के आधारभूत व्यवहार और साक्ष्य के महत्व के प्रति कितने जागरूक थे।

*

निर्देश

संस्कृत

सारस्वती सुषमा, वाराणसी, वर्ष २१, अंक २, सं० २०२३

कामस्य शृंगाररसे परिणतिः — श्री रमाशंकर जैतली।
आयुर्वेददर्शनम्—श्री कैलाशपति पांडेय।
तत्त्वकौमुदी पाठ विमर्शः — डा० रामशंकर भट्टाचार्य।

हिंदी

परिशोध, अंक ५ (गुरु गोविंदसिंह विशेषांक), पंजाब विश्व-विद्यालय, चंडीगढ़।

गुरु गोविंदसिंह के काव्य में कृष्ण बाललीला वर्णन—डा० संसारचंद।
गुरु गोविंदसिंह के काव्य में अस्त्र - शस्त्र—डा० भुवनेश्वरप्रसाद गुरुमैता।
दशम ग्रंथ के संदर्भ में चंडी की परिकल्पना—डा० मनमोहन सहगल।

जैन सिद्धांत भास्कर, आरा, भा० २४, अंक २, जुलाई, १९६५

साधु सुंदर रचित धातु रत्नाकर वृत्ति — श्री अगरचंद नाहटा।
जैन न्याय की एक अप्रकाशित पुस्तिका : प्रमेय कंठिका—श्रीगोपीलाल अमर।
जैन दर्शन में द्रव्यव्यवस्था—डा० कामताप्रसाद जैन।

प्रज्ञा, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, खंड १२ (१) अक्टूबर १९३६

भारतीय पंचांग—श्री राजमोहन उपाध्याय।

अंगरेजी

वही, खंड १२ (१), अक्टूबर, १९६६

सम रेयर पर्शियन मैनस्क्रिप्ट्स आव् द बी० एच० यू० लाइब्रेरी।
का० वि० वि० पुस्तकालय में संगृहीत कुछ अलभ्य फारसी हस्तलेखों का विवरण।

समीक्षा

सवेरा संघर्ष गर्जन

लेखक—डा० भगवतशरण उपाध्याय, प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ, दुर्गाकुंड मार्ग, वाराणसी; आकार ड०का० १६पेजी; पृष्ठ २४४; मूल्य ७)।

इस पुस्तक मे मानवता के इतिहास की कहानी लिखी गई है। लेखक का यह कहना कि देशी या विदेशी किसी भाषा मे इस ढंग की पुस्तक नहीं निकली है, ठीक नहीं है। मानवता के इतिहास की कहानी वेल्स ने लिखी उससे भी अधिक कहानी का रूप दिया हेनरिक फॉन लून ने। यह अवश्य कहा जा सकता है कि इस पुस्तक में लेखक की अभिव्यक्ति का ढंग नया है। अंगरेजी की पुस्तक 'चाइल्डहुड आव द वर्ल्ड' भी कहानी के रूपों मे ही लिखी गई है। किंतु उसमे इतिहास का मध्य तथा आधुनिक युग छोड़ दिया है।

मानवता का प्रारंभिक इतिहास अंधकार मे विलीन है। वैज्ञानिक, नृशास्त्री, तथा भूशास्त्रियों के सहारे ही जो कुछ बन सका बना है। कोई भी एक आदमी यह तीनों नहीं हो सकता या उसका हो सकना कठिन है। आज का इतिहासकार यदि विश्व के विकास तथा उसकी संस्कृति की प्रगति का इतिहास लिखता है तो निश्चय ही उसे इन विद्वानों का सहारा लेना पड़ता है। यह संभव नहीं कि उपाध्याय जी ने सब तथ्य खोज निकाले हों। उन्हें दूसरे लेखकों तथा पुस्तकों से सहायता लेनी ही पड़ी होगी। खेद है कि इसका उन्होंने कहीं उल्लेख नहीं किया है।

उपाध्याय जी की जो विशेषता इस पुस्तक मे है वह है उस इतिहास को सजीव कहानी का रूप देना। इस इतिहास की कहानी को तीन खंडों में बाँटा गया है। पहला भाग है गर्जन। इसमें पहली कहानी 'सवेरा' मे लेखक लिखता है—उषा ने जब प्राची गगन के द्वार खोले कनकतारों से गुहा का अन्तरतम भासमान हो उठा। नारी एक कुलाँच भर द्वार पर आ खड़ी हुई। धीरे-धीरे नर भी बाहर निकला कंधे से परिवार लपेटे, दो कुमारों तीन कुमारियों का। मानव सभ्यता के इतिहास का यह प्रारंभ बिल्कुल गलत है। जिसने इस विषय पर पुस्तकें नहीं पढ़ी हैं वह बहुत मिथ्या धारणा बना लेगा। परिवार का आरंभ बहुत बाद में मानव के इतिहास में हुआ है। यह नितांत सत्य है कि गुफा जीवन के आरंभ के पहले मनुष्य भी पशुओं के समान रहता था और बच्चों को माता के पास ही छोड़ देता था।

यह सब आज के इतिहासकार ने देखा नहीं, उसने कल्पना तथा प्रमाण के बल पर लिखा है। फिर भी बुनियाद तो वैज्ञानिक होनी चाहिए। कम से कम आरंभ का एक अध्याय उपाध्याय जी छोड़ गए। इससे पुस्तक भ्रामक हो गई है।

जिन ऐतिहासिक घटनाओं को उपाध्याय जी ने व्यक्त किया है उनमें भी मतभेद है। उपाध्याय जी के अनुसार ऋग्वैदिक सभ्यता सिंधुघाटी सभ्यता के बाद आई है। अनेक पश्चिमी इतिहासकार यही मानते हैं। अनेक भारतीय इतिहासकार इसे ठीक नहीं मानते। विवादास्पद विषय है, विद्वानों मे भी। उपाध्याय जी ने पाश्चात्य विद्वानों का ही आधार लिया है। इस पुस्तक को मानवता का इतिहास माना गया है। परंतु यूनान, रोम, मिश्र, ईरान, वेबिलोनिया, काल्डिया, सीरिया आदि के ऐतिहासिक विकास को प्रकाशित नहीं किया गया है। अच्छा होता यदि इसका नाम भारतीय सभ्यता के विकास की कहानी होता। भारतीय इतिहास में भी चरक तथा नागार्जुन के समय तक की ही कथा कही गई है। भारतीय सभ्यता का विकास भी वहीं समाप्त नहीं हो जाता। जहाँ तक मानव इतिहास की सभ्यता के विकास की कहानी का संबंध है यह पुस्तक निराशाजनक है। यह कहा जा सकता है कि लेखक ने समय समय पर जो इस विषय से संबंधित कहानियाँ या लेख लिखे हैं उनका संकलन है। इस दृष्टि से लेख सुंदर हैं, शैली आकर्षक है और उसमे साहित्यिक छटा है। समय की पाबंदी नहीं रखी गई है। पुस्तक इतिहास की भले ही न हो, आकर्षक भाषा में कथा की विधा में जिन ऐतिहासिक तथ्यों को रखने का प्रयत्न किया गया है वह मनोहर है। इस ढग से ऐतिहासिक घटनाओं को रखने का हिंदी मे यह नया प्रयास है। इसलिये हम इसका स्वागत करते हैं।

—कृ० प्र० गौ०

अस्तंगता

लेखक–श्री भिक्खु; प्रकाशक–भारतीय ज्ञानपीठ, दुर्गाकुंड मार्ग, वाराणसी; आकार ड० क्रा० १६ पेजी, पृष्ठ ११८; मूल्य ६)।

अस्तंगता उपन्यास है जिसकी कथा बंबई से गोआ की राजधानी पंजिम जाते हुए रोहिदास नामक जहाज पर आरंभ होती है। और पंजिम जाते जाते समाप्त होती है। एक यात्री को रूथ नाम की महिला जहाज पर मिलती है। यात्री उसकी ओर आकृष्ट होता है। आभास ऐसा होता है कि दोनों में रोमांस का बीज बोया जाता है। इस बीच रूथ अपनी जीवनगाथा युवक यात्री को सुनाती है। मूल उपन्यास यही है। रूथ का जीवन दुःख, पीड़ा और मार्मिकता से भरा हुआ है। वह अविवाहित प्रेम से उत्पन्न बालिका है। जिसे उसकी माता ईसाई अनाथालय में छोड़ जाती है उसमे ऐसे ही बालक तथा बालिकाएँ पलती हैं। रूथ का जीवन वहाँ

ईसाई धर्म से प्रभावित होता है। फिर उसे एक परिवार गोद ले लेता है। जिस परिवार मे वह गोद ली जाती है उसमें और भी बच्चे हैं। रूथ समझती है कि है कि यहाँ हमारे साथ परिवार के सदस्य के समान व्यवहार होगा किंतु वह नौकर की भाँति रखी जाती है और एक रात उस परिवार का मालिक सिन्योर परेरा उसके साथ बलात्कार करता है। रूथ इस पाशव व्यवहार से चुड़ैल नागिन बन जाती है। और बदला इस प्रकार लेना चाहती है कि पिता तथा पुत्र दोनो से प्रेम जताने लगती है और दोनों एक दूसरे के अंदर अंदर प्रतिद्वन्द्वी हो जाते हैं। अब रूथ की खातिर होने लगती है। उसका संमान होने लगता है। एक दिन पता चलता है उस घर की मालकिन सिन्योरा परेरा ही उसकी माँ है जो अपने पाप को छिपाने के लिये उसे अनाथालय मे छोड़ आई। उसकी माँ को यह भी पता चल जाता है कि उसका पति रूथ से प्रेम करता है। कथा म और भी मोड़ आते हैं और एक दिन बबई मे डाक्टर मातेरियों के यहाँ जहाँ रूथ उस समय रहने लग गई थी यह भी पता चलता है कि वह डाक्टर ही उसका पिता है जो दुर्बलता के कारण अविवाहित जीवन के पहले के प्रेम की संतान को स्वीकार करने मे असमर्थ था। अंत में रूथ गोआ के स्वतंत्रता सग्राम मे समिलित होती है, जेल जाती है और जब गोआ स्वतंत्र होता है तब छूटती है। और तभी जहाज पजिम पहुंच जाता है। यह हुआ कथा का सार।

रूथ के जीवन मे घटनाएँ एक के बाद चली आती हैं जिनका वर्णन लेखक ने मनोरंजक ढग से ही नहीं, हृदयस्पर्शी ढग मे किया है। ईसाई वातावरण मे पली लड़की ईसा और मरियम पर विश्वास करती हुई उदारमना है और जीवन के वास्तविक पक्ष को समझती है। वह कुछ दिनों के लिये 'नन' भी बनी पर वहाँ पागल हो गई क्योंकि वह सिन्योर परेरा जो उसे गोद लाया था, उसके बलात्कार को वह स्वीकार न कर सकी।

इसमे सदेह नहीं कि रूथ के जीवन मे जो घटनाएँ घटीं वैसी होती रहती है सिन्योर परेरा जैसे चित्र ससार मे पाए जाते हैं। और उसके पुत्र जैसे भी। संभव है है कुछ लोगों को रूथ के जीवन का वर्णन कहीं-कहीं ऐसा लगे जिसे लोग अश्लील कहते हैं। यहाँ मैं अश्लील का विवेचन नहीं कर सकता किंतु एक मूर्धन्य अंगरेजी कलाकार आस्कर वाइल्ड का यह कथन उद्धृत करना चाहूँगा—'देयर इज नो सच थिंग ऐज ए मारल आर ऐन इम्मारल बुक। बुक्स आर वेल रिट्न आर बैडली रिट्न। दैट इज आल।' और मेरे विचार से यह 'वेल रिट्न बुक' है। शिक्षा देने के लिये पुस्तक नहीं लिखी गई है। उपन्यास शिक्षा देने के लिखा जाय, यह मैं नहीं मानता। उसके लिये धर्मग्रंथ पड़े हुए हैं। उपन्यास तो समाज का चित्रण है। कलाकार की विशेषता इसी में है कि वह किस प्रकार चित्र का अंकन करता

है। सिन्योरा परेरा जो रूथ की माँ है तथा डाक्टर मातेरियो जो उसके पिता हैं, चरित्र के दुर्बल हैं किंतु उनमें मानवता कूट-कूट कर भरी है। उनका अपनी पुत्री से प्रेम और हृदय की विशालता उनके पुराने पापों को धो डालती है। जहाँ सिन्योर परेरा का चरित्र यथार्थ है वहाँ सिन्योरा परेरा तथा डाक्टर मातेरियो का चरित्र आदर्श है।

और भी चित्र हैं जैसे रोजी का। वह भी सुंदर है। सेक्स के संबंध में वह पुराने बंधनों से अलग है जान-बूझकर, किंतु सामाजिक जीवन उसका बहुत ऊँचा है। सेक्स के बंधनों को आंकने के लिये अलग अलग मूल्य हैं, अलग-अलग दृष्टि है। पाठक अपने मन के अनुसार धारणा बना सकते हैं। किंतु कलाकार की लेखनी की सुंदरता निर्विवाद है।

एक घटना कुछ अस्वाभाविक सी जान पड़ती है। यह तो संभव हो सकता है कि संयोग से रूथ की माता सिन्योरा परेरा मिल जाय किंतु फिर उसके पिता डाक्टर मातेरियो भी मिल जाते हैं, उनका प्रेमी भी किसी न किसी भाँति मिल जाता है। यह सब पुरानी कहानी की भाँति, जिसमें 'ड्रामेटिक जस्टिस' आवश्यक होती थी, है। जो कुछ भी हो यह उपन्यास सुंदर है, पठनीय है, कला की दृष्टि से पूर्ण है।

—कृ० प्र० गौ०

वह नन्हा सा आदमी

लेखक—सुमंगल प्रकाश; प्रकाशक – भारतीय ज्ञानपीठ, दुर्गाकुंड मार्ग, वाराणसी; आकार ड० क्रा० सोलह पेजी; पृष्ठ २७६; मूल्य ६)।

यह पुस्तक लालबहादुर शास्त्री का संस्मरण है। लेखक का उनका काफी सांनिध्य रहा है और उसने उनके संबंध में अपना यह संस्मरण पुस्तक के रूप में प्रकाशित किया है। जीवनचरित यह नहीं है जैसा कि लेखक ने आरंभ में लिख दिया है। किसी का जीवनचरित लिखना कठिन काम है विशेषतः जब लेखक अपने नायक के अति निकट रहा हो। तटस्थ रहना साधारण काम नहीं है। विदेशों में संस्मरण लिखने की प्रणाली कम है। सबसे सुंदर सच्चा संस्मरण बासवेल ने डाक्टर जांसन का लिखा है। संसार में वैसा संस्मरण आजतक लिखा नहीं गया। संस्मरण में स्वभावतः लेखक की अपनी भी जीवनचर्या आजाती है। यह स्वाभाविक है। संस्मरण तो उन्हीं बातों, घटनाओं का हो सकता है जो आपके साथ बीती हों। सुमंगलप्रकाश जी का संपर्क लालबहादुर शास्त्री से अधिक रहा है, समय-समय पर उनके साथ यात्रा भी की; जब शास्त्री जी उत्तर प्रदेश में गृह मंत्री थे तब भी वह उनसे मिला करते थे; मंत्री होने के पहले दिल्ली भी उनके साथ गए और रहे थे।

बराबर उनके यहाँ जाया करते थे। पुस्तक से जान पड़ता है उनका तथा शास्त्री जी का निकट का संबंध था। ऐसे लेखक की लेखनी से जो बात निकलेगी उसमे सच्चाई तो होगी ही, उसमे बहुत सी ऐसी बातों का पता भी चल जायगा जो साधारणतः जनता को ज्ञात नहीं है।

लालबहादुर शास्त्री संसार के उन जीवों मे थे जिन्होंने साधारण गरीब परिवार मे जन्म लेकर साधारण शिक्षा पाकर निज तपस्या के बलपर अपनी उन्नति तथा अपना विकास किया। उनके अनेक संगी साथी अभी जीवित हैं जिन्होंने उन्हे निकट से देखा है. उनके साथ रहे है, सार्वजनिक जीवन मे उनसे कधे से कंधा मिलाकर काम किया है। उनमे से किसी ने लालबहादुर शास्त्री के सबंध मे नहीं लिखा। यदि सुमंगलप्रकाश जी ने यह पुस्तक न लिखी होती तो शास्त्री जी के चरित्र की अनेक विशेषताएँ अप्रकाशित रह जातीं क्योंकि एक तो उन लोगों को पता नहीं जिन्होंने इनका जीवनचरित लिखा है दूसरे अधिकाश जीवनचरितों मे उनकी निजी कमजोरियाँ या गुणों को जगह नहीं दी गई है। इस पुस्तक के आधार पर चाहे आगे लोग और विस्तृत जीवनवृत्त लिखें।

इस पुस्तक मे केवल शास्त्री जी के चरित्र का ही ज्ञान आपको नहीं होता। वह शासन तथा संगठन से इतने सबंधित थे कि उनके साथ रहनेवाले इन बातों की गतिविधि से दूर नहीं रह सकते थे। सुमंगलप्रकाश जी ने कांग्रेस कमेटी की बैठकों मे उनके रवैया, उनके निर्णयों का भी कब कब और क्यों उन्हे संगठन तथा उसके कार्यों से वितृष्णा हुई, कैसे शास्त्री जी सुधार चाहते हुए भी असमर्थ रहे, देखा। सभी मंत्रियों के समान शास्त्रीजी समय की बाबंदी नहीं कर सकते थे। केवल नेहरू जी अपवाद थे। इसपर उन्होंने मार्मिक बात यह बताई जिसका जिक्र सुमंगलप्रकाशजी ने किया है। शास्त्रीजी का कहना था कि जो लोग आते हैं उनकी बात तो कम से कम सुन ही लेनी चाहिए और इसी सुनने मे उन्हे देर हो जाती थी। जिस रोग को जानते हुए भी दूर नहीं कर सकते थे। उन्होंने कहा था—इतना भी कभी कभी काफी हो जाता है इन बेचारों के लिये। और इसीलिये अपने कैबिनेट के साथियों से मैं बराबर कहता आया हूँ कि थोड़ा वक्त जरूर वह इस काम के लिये रोज रखें जब कि जो चाहे उनके पास आ सके और अपनी बात कह सके। और बातों के साथ साथ उनकी लोकप्रियता का यह भी कारण है। पुस्तक बड़ी सच्चाई के साथ लिखी गई है और देश के एक महान नेता के संबंध मे अच्छा परिचय इससे प्राप्त होता है।

—कृ० प्र० गौ०

अठारह सूरज के पौधे

लेखक—रमेश बक्षी; प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ, दुर्गाकुंडरोड, वाराणसी; आकार डे० क्रा० १६ पेजी; पृष्ठ १२०; मूल्य ३)।

आदि से अंत तक अनिच्छा होते हुए भी किसी प्रकार उपन्यास पढ़ गया पर कुछ समझ न आया, तब दोनों फ्लैपों पर जो कुछ पढ़ा उससे और आरंभिक लेखकीय वक्तव्य से जो समझ पाया उससे यह ज्ञात होता है कि यह एक ऐसे व्यक्ति की कहानी है जो यात्रा-पथ-विवरण के अनुसार कल्याण को केंद्र बनाकर पठानकोट से पुणे तक फैली हुई है। एक चित्र धूमिल सा रेल के किनारे कोयला बीननेवालों के साथ एक बालक का आता है। फिर एक साधारण परिवार का, सरसों का तेल लगानेवाली पत्नी और भैंस के दूध का व्यवसाय करनेवाले श्वसुर का, अरुणा, भाऊ आदि परिचित स्वजनों का। पर ये सब उसकी निगाह में परंपरावादी और दकियानूसी विचार के होने से घृणित एवं तिरस्कृत हैं। उनमें वह चित्र नहीं है जिसकी अनुभूति वह करता रहा और जो उसकी ग्रामीण पत्नी के अंतर्मन में भाऊ के कारण प्रविष्ट है। इससे ऊब या खीझ होना और उसके कारण निरंतर गतिशील होना, निरंतर गतिमय रहना ठीक भी हो सकता है। पर, गतिशील पदार्थ पर बैठकर स्थिर के बारे में यह सोचना और देखना कि सब हमसे विपरीत जा रहे हैं, और इसी में पुरानी धारणाओं और चिंतन को विघटित और दकियानूस देखना एकदम उलटबाँसी हो जाती है। वस्तुतः यह देखना भ्रम है, उसी प्रकार जैसे नौकारूढ़ जग को चलते देखता है।

खेद है कि यह मिथ्यावादिता और पलायन नई पीढ़ी का मूल स्वर हो उठा है, और साथ ही परंपरा के प्रति यह घृणा भी। यह घृणा केवल लिखने कहने के लिये है और केवल इसी लिये कि यह नई पीढ़ी और नई धारणाओं के राजनीतिक साहित्यिक बिजनेस की दकियानूसी और एकदम नएपन की हौस से ग्रस्त हैं; परिणामतः कोई सुस्पष्ट विचार नहीं दे पाती। रह जाती है व्याख्या, वह चाहे जैसी की जा सकती है। उसे दार्शनिकता का जामा नई पीढ़ी पहनाती है अपने वागाडंबर द्वारा, पर नएपन की हौस में यह नहीं ख्याल रख पाती कि यह दार्शनिकता का जामा उसे परंपरावादी बना देता है।

रूढ़िवादी और दकियानूस लोग किस समाज में नहीं हैं, पर जीवन में जिस तरह अनेक संबंधों में उलझे सुलझे स्वतंत्र व्यक्ति की तरह दिखाई देते हैं, उसी प्रकार परिवेश सहित उसको उपस्थित करना कथाशिल्पी का प्रमुख कर्म है। लेखक का भी विरोध को बल देना कौशल की अपरिपक्वता है। पात्र स्वचालित ही भले, अन्य पात्रों तथा लेखक द्वारा परिचालित पात्र पात्रता खो बैठते हैं और जीवन निष्प्राण हो जाता है। ट्रेन से लंबी यात्रा करने में जिस तरह एक खीझ, अन्यमनस्कता और ऊब होती है, ठीक वही इस उपन्यास के पढ़ने में। इससे अधिक इस उपन्यास पर और क्या कहा जाय।

गीतों का ताजमहल

लेखक-- वीरकुमार 'अधीर'; प्रकाशक--प्रतिभा प्रकाशन; देहरादून; आकार रायल ८ पेजी; पृष्ठ ६४; मूल्य ३)।

गीतों का ताजमहल कवि के ५१ गीतों का संकलन है। आज के युग मे जब नई कविता की धूम है, गीतकार जो वस्तुतः गीतकार हैं, अपना नयापन, अपने भावबोध और अपने कथ्य गीत को ही आधार बनाकर देते जा रहे हैं। स्वकल्पित तथा अर्जित आत्मधारणा एवं स्वानुभूति प्रत्येक की अपनी स्वतंत्र होती है, पर कवि का अनुभव और उसकी सबल अभिव्यक्ति जनमानस की हो उठती है। 'धरातल पर' शीर्षक से भूमिका के द्वितीय अनुच्छेद में कवि ने जो सुस्पष्ट विचार दिए हैं वे तथा 'काव्य क्या है', 'साहित्यकार' आदि रचनाएँ कवि के दृष्टिकोण को व्यक्तित्व प्रदान करती हैं। 'इंसानियत इंसान पर हँसने लगी', 'बीसवीं सदी के कीट्स' आदि रचनाएँ भी इसी क्रम में आती हैं। सुगठित शब्दयोजना और नई उपमाओं एव रूपकों के माध्यम से भावों की सहज अभिव्यक्ति करनेवाले कवि के लिये यह आवश्यक नहीं कि वह यह जानना चाहे कि लोग बाग उसके देखने को देख पाए या नहीं। कवि की यह भावना उसके जीवन में एक ठहराव, गतिरोध पैदा कर देती है और फिर वह कवि न रहकर अपनी रचनाओं का विश्लेषणपरक व्याख्याता बन जाता है। संकलन की सभी कविताएँ गेय और अनुभूतिपरक हैं। अधिकांश मे पीड़ा की एक मृदु लहर है जो पाठक पर अपनी छाप डालने में समर्थ है।

— विप्र त्रिपाठी

पड़ोसी देशों में

लेखक—यशपाल जैन ; प्रकाशक—सस्ता साहित्य मंडल; नई दिल्ली—१; आकार ड० का० १६ पेजी; पृष्ठ ३५०, मूल्य ६)।

प्रस्तुत पुस्तक मे दक्षिण पूर्व एशिया बर्मा, थाइलैंड, मलाया, कंबोडिया, दक्षिण वियतनाम, सिंगापुर और मलाया, अफगानिस्तान और नेपाल का यात्राविवरण संकलित है। इसमें केवल यात्राविवरण या यात्राक्रम देकर ही यात्राविवरण की पूर्ति नहीं की गई है अपितु संबद्ध देशों की अधिक से अधिक जानकारी दी गई है जिससे उनके रहन सहन, रीतिरिवाज, सभ्यता, संस्कृति, कला, साहित्य आदि का भी पाठकों को ज्ञान होता है। इस प्रकार के यात्राविवरण एक दूसरे को भली भाँति जानने समझने और आपसी सांस्कृतिक साहित्यिक और भावात्मक संबंधों के आदान प्रदान को बढ़ाने में सहायक होते हैं। इस दृष्टि से इस प्रकार के यात्राविवरण का

आज के युग में विशेष महत्व है। यह महत्व भली भाँति तब ज्ञात होता है जब हम पुराकालीन इतिहास के आधार पर यह देखते हैं कि इन देशों से हमारा घनिष्ठ संबंध सहस्राब्दियों से चला आता है – हमारे संस्कार और सभ्यता की छाप आज भी इन देशों के जनमानस पर अपनी अमिट छाप डाले बैठी है। बर्मा और अफगानिस्तान के रोमांचकारी अनुभव और साथ ही बर्मा हिंदी साहित्य संमेलन का वार्षिकोत्सव, बर्मा की भारतीय बस्ती, रंगून की भारतीय संस्थाएँ, थाई लोकजीवन की झाँकी और साहित्य; थाईलैंड में भारतीय संस्कृति और संस्थाएँ; सिंगापुर में भारतीय संस्थाएँ, जीवन का यह घिनौना पहलू और कला की अपूर्व स्थली शीर्षक लेख ज्ञातव्य सामग्री से युक्त और पठनीय हैं। पड़ोसी देशों के स्वरूप ज्ञान के लिये प्रस्तुत यात्राविवरण उच्चकोटि का है। इस तरह की पुस्तकों का प्रकाशन मंडल आशा है आगे भी करता रहेगा।

कुछ शब्द कुछ रेखाएँ

लेखक– विष्णुप्रभाकर ; प्रकाशक--सस्ता साहित्यमंडल, नई दिल्ली, आकार ड० क्रा० १६ पेजी; पृष्ठ १७३; मूल्य १)५० ।

हिंदी के नाटककार और कहानी लेखक विष्णुप्रभाकर द्वारा समय समय पर लिखी रचनाओं का यह संकलन है जिसमें रेखाचित्र, इंटर्व्यू और संस्मरण इन तीनों विधाओं का संयोजन है। कुल २२ लेख हैं जिनमें सामान्यजन से लेकर श्रेष्ठजनों तक के संस्मरण आ गए हैं। कम से कम शब्दों में अधिकाधिक भाव व्यक्त करना और अंतर्मन की झाँकी प्रस्तुत करना रेखाचित्र की विशेषता है। रेखाचित्र की इस विशेषता के साथ ही साथ लेखक ने अनेक ऐसे चित्र प्रस्तुत किए हैं जो किसी भी पाठक के हृदय पर स्थायी प्रभाव डालते हैं। तिरुपति चेट्टियार, फाया अनुमान राजधन, रंगून का वह लाजुक डाक्टर, बर्मा का एक भारतीय व्यापारी, मामा वरेरकर आदि लेख इस दृष्टि से अवलोकनीय हैं। सभी रुचि के पाठकों का समाधान हो इस दृष्टिकोण से संस्मरण के पात्रों के चुनाव में वैचित्र्य है। इस दृष्टि से पंडित जी जिनके नयनों में स्वर्ग है, खान साहब शेख मोहम्मद जान आदि द्रष्टव्य हैं। सहज प्रवाहशील भाषा और छोटे छोटे सार्थक वाक्यों में अधिकतम भावों की सुस्पष्ट अभिव्यक्ति के कारण इन लेखों का प्रभाव पाठक के मन को आत्मसात् कर लेता है। पुस्तक मनोरंजन और ज्ञानवर्धन के साथ यह भी संकेतित करती है कि हिंदी में इस प्रकार के सफल संस्मरण लेखक कम हैं। संकलित रचनाओं में कुछ मार्मिक हैं कुछ मनोरंजक और ज्ञानवर्धक। हिंदी प्रेमियों के लिये पुस्तक पठनीय है।

— विश्वनाथ त्रिपाठी

तार सप्तक

संकलनकर्ता और संपादक—अज्ञेय, प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ, दुर्गाकुंड मार्ग, वाराणसी; आकार डबल डिमाई १६ पेजी; पृष्ठ २० + ३२०; मूल्य—८)।

'तारसप्तक' का प्रकाशन सन् १६४३ ई० में हुआ था। बीस वर्ष बाद सन् १६६३ ई० मे अज्ञेय ने इसके पुनः संपादित संस्करण की योजना बनाई और तेइस वर्ष बाद सन् १६६६ ई० मे इसका वर्तमान संस्करण प्रकाशित हुआ है। मुझे स्मरण है, 'तारसप्तक' का प्रथम संस्करण गुदड़ी बाजार म रद्दी के भाव बिका था और उसी रद्दी से मैंने इसकी एक प्रति खरीदी थी। सप्तक के कवियों के चयन और उनकी काव्य प्रतिभा के संयोजन से हिंदी म अज्ञेय के नेतृत्व में प्रयोगवाद का जन्म हुआ। जहाँ इन प्रयोगवादी कवियों की ललक, लालसा, शौक और सीमा व्यापक चर्चा का विषय बनी, वहीं अनेक संकलित कवि अच्छे कवि के रूप मे ख्यात हुए। इस काव्य-संपादन की अनुकृति करने की कोशिश हिंदी साहित्य मे बड़ी तेजी से चल पड़ी, पर 'दूसरा सप्तक' और 'तीसरा सप्तक' का क्रमशः संपादन और संकलन कर अज्ञेय ने प्रयोगवाद का नेतृत्व किया और हिंदी काव्य में जहाँ अज्ञेय नए स्कूल के संस्थापक हुए; वहीं प्रयोगवाद, अज्ञेय तथा अन्य कवियों की इतनी प्रशंसा और निंदा की गई कि काव्य की अनेक धाराएँ – जिनका वस्तुतः विकास होता तो कई अच्छे कवि सामने आते - अवरुद्ध हो गई।

सप्तक मे संकलित कवि गजानन माधव मुक्तिबोध, नेमिचंद जैन, भारतभूषण अग्रवाल, प्रभाकर माचवे, गिरिजाकुमार माथुर, रामविलास शर्मा और अज्ञेय हैं। 'तारसप्तक' के प्रथम संस्करण में प्रकाशित इन कवियों की कविताओं और वक्तव्य के अतिरिक्त नए संस्करण मे उनका 'पुनश्च' - वक्तव्य और दो-दो तीन-तीन ताजी कविताएँ संकलित की गई हैं। उनका सन्. ४३ के उपरांत का जीवन-परिचय भी दे दिया गया है। अज्ञेय ने वर्तमान संस्करण की समकालीन-काव्य-इतिहास-भूमिका मे सप्तक के निजी स्थान की घोषणा करते हुए सिद्ध किया कि 'सृजनशील प्रतिभा का धर्म है कि व्यक्तित्व ओढ़ती है। सृष्टियाँ जितनी विशिष्ट होती हैं, स्रष्टा उससे कम विशिष्ट नहीं होते, बल्कि उनके व्यक्तित्व की विशिष्टता मे ही उनकी रचनाएँ प्रतिबिंबित होती है। यह बात उन पर भी लागू होती है जिनकी रचना प्रबल वैचारिक आग्रह लिए रहती है। जब तक कि वह रचना है निरा वैचारिक आग्रह नहीं है। कोरे वैचारिक आग्रह में अवश्य ऐसी एकरूपता हो सकती है कि उसमें व्यक्तियों को पहचानना कठिन हो जाय। जैसे शिल्पाश्रयी काव्य पर रीति हावी हो सकती है सप्तक के कवियों के साथ ऐसा नहीं हुआ; संपादक की दृष्टि से उनकी

अलग अलग उपलता (या स्वस्थता) का यह प्रमाण है। स्वयं कवियों की राय इससे भिन्न हो सकती है—वे जानें"[1]

इन कवियों में जो व्यंजना और अभिव्यक्ति है, वह उतनी महत्वपूर्ण नहीं है जितना महत्वपूर्ण इन कवियों का रचना विधान है। पाश्चात्य साहित्य में 'कैसल्स इनसाइक्लोपीडिया' जैसे प्रमाण-ग्रंथों में भी प्रयोगवाद (एक्सपेरीमेंटलिज्म) नाम की कोई चीज नहीं है। अतः हिंदी में प्रचलित यह वाद सर्वथा नया है। नवीनता में उपलब्धियों के साथ ही त्रुटियों की भी पर्याप्त संभावना रहती है। इतना तो निश्चित है कि मुक्तिबोध, नेमिचंद और प्रभाकर माचवे की कविताएँ यदि इस संकलन में न रहतीं तो प्रयोगवाद और हिंदी कविता की कोई हानि न होती क्योंकि उपर्युक्त कवि प्रकृत्या (बार्न) नहीं प्रयत्नशील कवि हैं। इनकी रचनाओं में कथमपि भावात्मक अनुभूति की गहराई और सुघरता नहीं दिखाई पड़ती।

कविता किसी युग विशेष से संबंध नहीं रखती। सच्चा कवि युग युग के लिये प्रकाश प्रदान करता है। वह वादों के संकीर्ण घेरे में कभी नहीं घिरता, न युगधारा से अपना संबंध विच्छेद करता है। इन प्रयोगवादी कवियों ने समाज की गतिविधि का दर्शन और अनुभव किया (बहुतों ने बिना अनुभव किए ही) तथा चित्रकार की भाँति अपनी बिखरी भावनाओं का कविता के माध्यम से प्रयोग आरंभ किया। आधुनिकता की ललक में कई कवियों ने ऐसे-ऐसे निरर्थक बे सिर-पैर के प्रयोग किए, जो काव्य साहित्य के लिए वर्ज्य और अवैध थे; परंतु इसके साथ ही ढिंढोरा पीटने वालों और विरोधियों के अलग अलग दल सक्रिय थे, जो गजानन माधव मुक्तिबोध को ईसा, माचवे को पिकासो और नेमिचंद को नित्से की भाँति महत्वपूर्ण सिद्ध करने में साहित्यिक मान्यताओं को झुठलाने लगे। दूसरी ओर इन कवियों की बेमानी रचनाओं से चिढ़कर इन्हें निकृष्ट और निरर्थक कवि सिद्ध करने का षड्यंत्र चलने लगा। परिणाम यह हुआ कि इन कवियों की इतनी चर्चा हुई कि अनेक प्रतिभावान कवि जिनमें कविता लिखने की प्रकृत क्षमता थी उपेक्षित रह गए और कविकर्म छोड़कर अपनी रोजी-रोटी कमाने में लग गए। कविता जब प्रबल अनुरोध के साथ किसी भी उधार ली गई विदेशी विचारधारा की ओर प्रवाहित होने लगती है तब निश्चय ही बेमानी रचनाओं की भीड़ लग जाती है जिससे पाठकों के विवेक में संशय और संदेह पैदा होता है। कई प्रयोगवादी कवियों ने बिना व्यक्तित्व ओढ़े ही अपने विचाराग्रह को प्रमुखता दी और उन पर कई विदेशी विचारक इस भाँति छाए कि उनकी अनुकृति करके उन्होंने हिंदी काव्यपरंपरा को पतन के गर्त में

१. तार सप्तक, पृ० ६।

ढकेल दिया, जिसका परिणाम नई कविता, कविता अकविता के प्रयोग-'तू-तू-मैं-मैं-कुत्ता' तक में परिणत हुआ।

संक्रांति के रंगों की प्रधानता से प्रेरित नेमिचंद के संस्कार और विवेक की कसमसाती काव्य-चेतना पगपग पर पाठकों की मानसिक दीवार से टकराकर विच्छिन्न हो जाती है और उनकी यह दलील कि 'कला की सच्ची प्रगतिशीलता कलाकार के व्यक्तित्व की सामाजिकता में है, व्यक्तित्वहीनता में नहीं',[२] उनके आत्मकेंद्रित अहंकार का द्योतन करती प्रतीत होती है। उनकी कविताओं से पाठकों की चेतना को ऐसे द्वंद्व की स्थिति में आना पड़ा कि उलझनभरा उनका काव्य उच्छ्वास असामाजिक तर्क-जाल के सिवा और कुछ भी नहीं लगता। नेमिचंद का 'पुनश्च' के अंतर्गत पाठकों पर आरोपित यह विचार निरर्थक है कि 'इन कवियों का अपना व्यक्तित्व उपेक्षित हुआ और गलत भी समझा गया।' जिन कविताओं में तत्व होता है उनकी पाठक अवश्य प्रशंसा करते हैं। कवि द्वारा स्वयं निरर्थक व्यक्तित्व पाठकों पर आरोपित करना साहित्य की मान्यताओं के प्रतिकूल है। नेमिचंद की कविताओं को पढ़कर कह सकता हूँ कि आज का कवि वक्तव्यबाजी और सिद्धांतों की दलील देता है और अपने एकांत में वह इतना आत्मकेंद्रित हो गया है कि वर्षों बाद अचानक किसी की अम्लान मित्रता का आश्वासन उसके बौनेपन और अहंकार को जीवनबद्ध नहीं कर पाते।

जीवन के आंतरिक और जगत के बाह्य द्वंद्वों में संबद्ध दार्शनिक प्रवृत्ति के तरफदार तथा अनुभवसिद्ध व्यवस्थित तर्कप्रणाली अथवा जीवनदर्शन को आत्मसात् कर लेने की दुर्दमनीय मानसिक पिपासा की टेक में जीवन त्याग कर देनेवाले कवि मुक्तिबोध युगसंधि के कार्यकर्ता अधिक और कवि नाममात्र को थे। वर्तमान युग में व्यक्ति-स्वातंत्र्य और अस्तित्व-संघर्ष की आत्मपरीक्षा तथा आध्यात्मिक शक्ति-संघर्ष ने मुक्तिबोध को इतनी गहन और दीर्घ काव्यरचना पद्धति की सघन बिंबमालिकाओं की अंतर्मुख दशाओं की ओर प्रेरित किया कि उनकी आत्मग्रस्त संवेदना समाज की व्यापकता का छोर छूने लगी, जब कि उनकी कविताओं ने पाठक के मन में कभी आस्था का प्रकाश नहीं फैलाया। मुक्तिबोध को ईसा सिद्ध करने में उनके चेलों ने उनकी इनीगिनी कुछ अच्छी कविताओं को भी सूली पर चढ़ा दिया और मुक्तिबोध का कविकर्म युग संघर्ष और आत्म संघर्ष की पाट में पिसकर साबूत नहीं रह सका और विवशतः उन्हें कहना पड़ा—

२. वही, पृ० ६।

तड़के ही रोज
कोई मौत का पठान
माँगता है जिन्दगी जीने का ब्याज
अनजाना कर्ज
माँगता है चुकारे में प्राणों का मांस,[3]

वस्तुतः मुक्तिबोध का जीवन ही इन पंक्तियों का हविष्य बन गया और इसी लिये उन्हें लिखना पड़ा —

मुझे प्रिय अपना अंधकार
गठरी में छिपा रखा निजी रेडियम
सिर पर टोकरी में
छिपाया मैंने कोई यीशु
अपना कोई शीशु[4]

अंधकार में भटकती मुक्तिबोध की आत्मा को ईसा बनाना उनकी साहित्यिक मान्यताओं की हँसी उड़ाने से कम नहीं है।

प्रारंभ में भारतभूषण ने मैथिलीशरण गुप्त की उपदेशात्मक शैली से प्रेरित होकर अपनी अनुभूतियों को प्रकट करने की क्षमता प्राप्त की। उन्होंने पलायन और स्वप्नालोक की स्वीकृति के साथ अपनी काव्य रचनाओं का प्रारंभ किया तथा असामाजिक समस्याओं से उत्पन्न तीव्रण व्यक्तिगत समस्याओं का असंभव समाधान अपनी कविताओं में निरंतर व्यक्त किया है। जब अनेक प्रयोगवादी कवि दंभ, अकर्मण्यता और असामाजिकता के घेरे में घिरे हैं तब भी भारतभूषण की काव्य संपत्ति उनकी ही नहीं पाठकों की रुचि का भी परिष्कार करती है। उन्होंने कर्म से पलायनवादी स्पंदन सुनकर ही कहा है कि 'यदि कविता का उद्देश्य कवि की इकाई और समाज की व्यवस्था के बीच के संबंध को स्वर देना और उसको शुभ बनाने में सहायता करना है तो हिंदी के कवि को समाज से नाराज होकर भागने की बजाय समाज की उस शोषणसत्ता से लड़ना होगा जिसने उसे केवल स्वप्नाभिलाषी और कल्पनाविलासी बना छोड़ा है और जिसने उसको अपनी कविता को ही एकमात्र संपत्ति मानने के भ्रम में डाला है।'[5]

३. वही, पृ० ७८।
४. वही, पृ० ८०।
५. वही, पृ० ९७।

भारतभूषण के प्रयोग अपार्थिव फूलों की सेज नहीं तेज अस्त्र हैं, जिनका मूल्यांकन आवश्यक है—

> छलक कर आयी न पलकों पर विगत पहचान,
> मुस्करा पाया न होठों पर प्रणय का गान ;
> ज्यों जुड़ी आँखें, मुड़ीं तुम चल पड़ा मैं मूक
> इस मिलन से और भी पीड़ित हुए थे प्राण।[६]

वर्तमान यांत्रिक युग में मन का स्पंदन सुन लेना किसी भी सफल कवि का पहला लक्षण तब है, जब वह पाठकों को भी अपने स्पंदन से स्पंदित कर दे। भारतभूषण की कविता का स्रोत कभी सूखा नहीं। वे निश्चय ही लक्ष्यसिद्ध काव्यकर्मी हैं। मूलतः वे प्रयोगवादी नहीं—कवि हैं।

संस्कार और वातावरण कवि के सृजनमूल हैं। वातावरण परिवर्तनशील है, संस्कार शास्वत। गिरिजाकुमार माथुर ने मौलिक विषय का पक्ष तो लिया है, लेकिन उनका सारा ध्यान टेकनीक पर आधृत है। आकाश-तत्व के विविध रूपांतर स्वर-ध्वनि-मोह की मान्यता के वाहक इस कवि ने तार सप्तक में सुलझे प्रयोग किए हैं। माथुर ने वर्तमान संस्करण में जोरदार दलीलें देकर प्रतिपादित किया है कि 'प्रयोगवादी कवि ने केवल काव्यगत सौंदर्यतत्व को भावस्तर पर ही नहीं ग्रहण किया अपितु असुंदर की मर्मानुभूति को भी सौंदर्यबोध के अंतर्गत रखा।'[७] माथुर ने देश विदेश के विविध वातारण में अपनी यावत् अनुभूतियों का संकलन किया है, परंतु उनके संस्कार भारतीय हैं। उनकी मान्यता है कि 'मध्ययुगीन मूल्य, हेय भावुकतापूर्ण रोमास, कल्पनाप्रधान सांस्कृतिक बोध तथा धरातलीय उदात्तवाद के धुंध को प्रयोगवादी कवियों की नई संवेदनशीलता और वस्तुपरक सूक्ष्म दृष्टि ने सदा के लिए मिटा दिया है।'[८] वास्तव में संवेदना और सौंदर्यदृष्टि नई-पुरानी नहीं होती, अपितु यह कवि के आंतरिक व्यक्तित्व के संचारिणी प्रवृत्ति-बोध पर निर्भर करता है कि वह संवेदना और सौंदर्य का अनुमान कर उसे सफल टेकनीक में व्यक्त कर पाता है या नहीं। जिन पूर्ववर्ती महत् तत्वों को प्रयोगवादी कवियों की कविता धारा से पिघलाकर प्रवाहित करने की माथुर ने वकालत की है, वस्तुतः उसे नई पुरानी, रूढ़ि और परंपरा के प्रश्न से संबद्ध करना अनुचित है।

६. वही, पृ० १०४।
७. वही, पृ० १४६।
८. वही, पृ० १४८।

क्या 'सप्तक' में संगृहीत कवि ही हिंदी काव्य सरिता में नवीन प्रवाह ला सके हैं ? बहुत से ऐसे कवि हैं, जिन्होंने काव्यवस्तु और रचनाविधान दोनों में अपनी रचनात्मक मान्यता स्थिर की है, पर उन्होंने अपनी निष्ठापूर्ण क्रियाविधि का न प्रचार किया और न तार्किक दुहाई दी है। यदि विरह-मिलन, आशा-निराशा, सुख-दुःख, ऊँच-नीच, प्रेम-विराग, आत्मा परमात्मा, प्रकृति-सांसारिकता, भौतिकता, आध्यात्मिकता, जनता और समाज, स्वदेशी और विदेशी आदि प्रयोगवाद के पहले कविता के प्रतिपाद्य विषय थे तो क्या उपर्युक्त काव्य - वस्तु व्यापार से परे रहकर किसी प्रयोगवादी ने कोई रचना की है ? विशेषीकृत अनुभूति जो प्रयोगवादी माथुर की देन है उससे सामान्यीकृत अभिव्यक्ति अप्रयोगी कवियों की कविताओं मे हो सकती है पर वे शास्वत् काव्य-मूल्यों की अनिवार्य शर्तों पर झूठे तर्क देकर पलायन नहीं करते। टेकनीक के नाम पर जुगुप्स मानस की वृथा सृष्टि हेय मानी जाती है—चाहे उसकी जोरदार दलीलें क्यों न पेश की जाँय ? माथुर की इन पंक्तियों का रचना विधान और अर्थ मेरी विनम्र मति मे नहीं आया—

बोझल देह का
लिप्त मन का
झर गया बूर
चूकर गिरा फूल
तैर गया
पतली धारियोंदार लहरों मे
दूर ले जाती
विलमाती हवाओं में।[१]

यदि ऐसी निरर्थक, अस्पष्ट, दोषपूर्ण कविताएँ आधुनिक तथ्यवादी कृतिकारों की निरंतर वर्तमान सांस्कृतिक संवेदना के मूल्य और स्तर का मापदंड है, तो ऐसी टेकनीक से अधिक महत्वपूर्ण वे लोककवि हैं जो कजली, लावनी की रचना करते और परिष्कारपूर्ण सांस्कृतिक धरातल पर मन को मोह लेते हैं।

'कविता इतिहास की जननी नहीं पुत्री है' जैसी मौलिक स्थापना करने के भ्रम में प्रभाकर माचवे ने कविता मे रोमांस और यथार्थ का अन्योन्याश्रित संबंध जोड़ते हुए कहा है कि 'रोमांस स्वस्थ मन का भावनात्मक रुख है, यथार्थ उसी की बुद्धिगत परिकल्पना।' माचवे ने अपने व्यक्तित्व को इतने अधिक स्तरों में विभाजित कर डाला है कि एक रिपोर्ताज लेखक के अतिरिक्त वे अपने कवि-कर्म में अकिंचन

१. वही, पृ० १६२।

लगते हैं। उन्होंने अपने व्यक्तित्व को अनेक प्रभावों से आक्रांत कर लिया है, इसीसे उन्हें मानसिक प्रभाव प्रक्रिया, वेदना-संवेदना, प्रगति अगति आदि का बिंबवादी नेतृत्व करने के लिये व्यर्थ ऊहापोह करना पड़ा है। प्रमाणसिद्ध छायावाद के संबंध में उन्हें यह लचर और बेतुकी स्थापना करनी पड़ी है कि 'छायावाद हिस्टीरिया की भाँति हिंदी कविता का एक मानसिक रोग है। स्वस्थमना कवि के लिये छायावाद का माध्यम स्थावर, स्त्रैण और जीर्ण है।'[१०] परंतु माचवे की कविताएँ अनेक शैलियों में लिखी जाकर भी भाव संपन्नता की दृष्टि से, पुनर्निर्माणात्मक रचनात्मक और मौलिक नहीं कही जा सकतीं। माचवे की कविता आत्मविश्वास रहित लेखक की जबरदस्ती गढ़ी गई कविताएँ हैं, जिनमे अस्पष्ट बिंब हैं। कुछ पाठकों को वह निरर्थक भी लगेगा। यदि अज्ञेय ने माचवे और प्रारंभ में गिनाए गए दो एक निरर्थक निरुद्देश्य कवियों को इस सप्तक मे स्थान न दिया होता तो बीस वर्षों तक तारसप्तक को लेकर वाद-विवाद न हुआ होता और हिंदी काव्य जगत मे नासमझी (कंफ्यूजन) की स्थिति न पनपती।

रामविलास शर्मा एक समीक्षक के रूप में श्री शांतिप्रिय द्विवेदी के पूरक-प्रतीक हैं। शांतिप्रिय की समीक्षा मे सुलझे विचार, स्तुत्य चिंतन और रागात्मिका वृत्ति है और रामविलास यथार्थबोध के व्याख्याता और निर्भीक निर्णायक हैं। कवि रूप मे रामविलास निराला के 'बासवेल' हैं। निराला उनकी प्रेरणा के प्रतीक थे। रामविलास ने निराला की लीक और शैली पर चलकर सत्य की खोज करने की कोशिश में अधिकांश कविताएँ लिखी हैं। जनसत्ता के समर्थन की परंपरा के प्रति आस्तिक रामविलास की कविताएँ मोहक हैं —

> कट गयी डगर जीवन की थोड़ी रही और ;
> इस वन मे कुश - कंटक सोने को नहीं ठौर।
> पथ मे उन अमिट रक्तचिह्नों की रहे शान,
> मर मिटने को आते है पीछे नौजवान।
> इस वन में जहाँ अशुभ ये रोते हैं शृगाल,
> निर्मित होगी जनसत्ता की नगरी विशाल।[११]

अवध के ग्रामीण अंचल का प्रकृति-सौंदर्य संपन्न वातावरण और साहित्यिक संस्कार की निर्भीकता ने कवि रामविलास के व्यक्तित्व को कुंठा और घुटन की रूढ़ि

१०. वही, पृ० १८४।
११. वही, पृ० २३५।

और कारागार में उन्हें कभी बंदी नहीं बनाया। इसी कारण माचवे, मुक्तिबोध, नेमिचंद से परे अनगढ़ और असंभाव्य प्रतीक योजनाओं से अपना पल्ला छुड़ाकर काव्य के रहस्यवादी पक्ष को संदेहास्पद मानते हुए सामाजिक पृष्ठभूमि के समक्ष, यथार्थ की अंतर अभिव्यक्ति से भावानुप्राणित काव्यबोध रामविलास व्यक्त कर सके हैं। प्रकृतिप्रदत्त अनुभव और निरीक्षण रामविलास की सभी कविताओं में दिखाई पड़ता है।

'तारसप्तक' के संपादक, प्रख्यात साहित्यकार और 'दिनमान' द्वारा हिंदी पत्रकारिता में राजनैतिक प्रवृत्तियों के सूत्रधार अज्ञेय का कथन है कि 'कवि का कथन, आत्मा का काव्योत्कर्षकारी व्यक्तिबद्ध व्यापक सत्य है।'[१२] व्यापक सत्य और व्यक्ति सत्य दो सत्यानुभूतियों की विलग स्थितियों की उद्भावना कवि - कर्म - सापेक्ष है। कवि का सामाजिक उत्तरदायित्व है कि वह काव्यविषय की संवेदना का संप्रेषण और साधारणीकरण करे। अनेक प्रयोगवादी कवियों की कविता की उपयोगिता में संप्रेषण और साधारणीकरण का अभाव दृष्टिगोचर होता है। आज का पाठक युग की जटिल समस्याओं से व्यक्ति-सत्य और व्यापक-सत्य दो स्तरों में बटे प्रयोगवादी कवियों की रचनाओं में प्राणसंचार करनेवाली मार्मिकता नहीं प्राप्त कर पाता। अज्ञेय की कविताओं में 'अहं' की आत्माभिव्यक्ति हुई है और उन्होंने कविता के सफल भाषा-संप्रेषण से पाठक और कवि के पार्थक्य को समाप्त कर दिया है। उनकी बोधगम्य कविताएँ सामाजिक रूढ़ियों में असाधारण तीव्र गति से यौनवर्जनाओं की परिकल्पना में अपनी सौंदर्यचेतना का आश्रय लेती हैं और वे सफल यौन प्रतीकार्थों से सपन्न प्रणीत होती हैं। वर्गवाद और व्यक्तिवाद में संयोगस्थ समाज की उचितानुचित वर्जनाओं में विद्रोह करनेवाली काव्यचेतना का प्रश्न सांस्कृतिक धरातल से संबद्ध है। संस्कृति मानस की सृष्टि है। नित्य परिवर्तित सभ्यता की चकाचौंध में जब कोई आंतरिक-चेतना संस्कृति का एकाग्र आश्रय लेती है, तभी कविता समाजोपयोगी हो सकती है। अज्ञेय की कविताएँ अंधकार और आलोक का अनुक्रम, धृति और गति का सामंजस्य, वासना और विवेक का विभेद तथा उदासी और खंडन की परिस्थितियों में आत्मविश्वास का स्वर संयोजन करती हैं। जिस पथ पर प्रयोगवादी कवियों को लेकर अज्ञेय चले थे, उस पथ को छोड़ कई अविश्वास से टूट गए। कुछ आत्म-विडंबना से ग्रस लिए गए, फिर भी अज्ञेय सफल और मौलिक भावनाओं की कसौटी पर प्रायः निर्दोष उतरनेवाली रचनाएँ लिख रहे हैं। उनका अधुनातन चेतन कवि कहता है—

१२, वही, पृ० २७५।

मुड़ती, बलखाती,
नए मार्ग फोड़ती
नए करारे तोड़ती
चिर परिवर्तनशील, सागर की ओर जाती, जाती, जाती...
मैं यहाँ हूँ दूर, दूर, दूर...,[13]

अज्ञेय की कई कविताओं में व्यक्ति और वर्ग का बिलगाव चेतना की मेखला-सी जीवनानुभूतियों की विनत कृतज्ञता के बोझ से खुले आकाश में काव्यरूढ़ियों की पहाड़ियों पर विस्तीर्ण हो गया है।

'तारसप्तक' का यह संस्करण आधुनिक काव्य इतिहास में प्रयोगवादी कवियों की सामयिक अर्थवत्ता का अभिराम प्रकाशन है।

अनुक्षण परिवर्तित मनःक्रम के कारण अनेक प्रयोगवादी कवि सभ्यता की मृगमरीचिका में न मझधार की तीव्र उर्मियों में हैं न किनारे के उथले ठहराव पर। प्रयोगवादी कवि को कुछ न कुछ लिखना है, वह लिख रहा है चाहे उसकी उपयोगिता हो या न हो। परंपरा और रूढ़ि का भेद किए बिना प्रयोगवाद जड़ता के क्रोड़ में केंद्रस्थ हो गया तो संस्कृति की ऐतिहासिक यथार्थ चेतना लक्ष्यच्युत हो जायगी।

—क्षणदा

स्मृतियाँ और कृतियाँ

लेखक—श्री शांतिप्रिय द्विवेदी; प्रकाशक—चौखंभा विद्याभवन, चौक, वाराणसी; ड० क्रा० सोलहपेजी; पृ० ८+१५२; सजिल्द, मूल्य ४)।

पुस्तक में दो खंड हैं—संस्मरण और समीक्षा। संस्मरण खंड में दस लेख हैं जिनमें लेखक द्वारा अपने बचपन से लेकर अब तक अपने और अपने संपर्क में आए कतिपय प्रमुख व्यक्तियों के संबंध में आए अत्यंत आत्मीयतापूर्ण शैली में लिखित निबंध हैं। द्विवेदी युग को छोड़कर हिंदी का आधुनिक काल प्रायः विगत आधी शताब्दी के अंतर्गत ही पुष्पित पल्लवित-फलित हुआ है और उसकी सारी प्रतिक्रियाओं में लेखक का साक्षात् योग रहा है। फलतः उसने इस खंड में जो कुछ लिखा है, पूरे मनोयोग के साथ और उसमें रमकर लिखा है। लेखक पर भगवती सरस्वती की जैसी अशेष कृपा रही है, शारीरिक और

१३. वही, पृ० सं० ११७।

विशीर्ण दृष्टि से भगवान् उस पर वैसी ही अकृपा भी निरंतर करते रहे हैं। फिर 'कोढ़ में की खाज' के सदृश गृह-गृहिणी पुत्र-कलत्र विहीन, सर्वथा अनिकेतन जीवनयापन ! अतः उनका अपने को 'सर्वहारा कहना अत्यंत उपयुक्त और समीचीन है। द्विवेदीयुग के अनंतर हिंदी में जिस 'छायावाद' युग का बोलबाला रहा उसके चारों दिग्गजों— प्रसाद, पंत, महादेवी और निराला से लेखक का घनिष्ट संपर्क रहा है और उनके संबंध मे उसने जो कुछ लिखा है, उसमे पूरी हार्दिकता और तन्मयता है। परिस्थिति और मनस्थिति के कारण 'निराला' जी को लेखक की विशेष सहानुभूति मिली है—इस पूर्व खंड के दस में से तीन निबंध 'निराला' जी से ही संबद्ध हैं।

पं० शांतिप्रिय द्विवेदी जी आज एक विशिष्ट शैलीकार समीक्षक के रूप में प्रतिष्ठित हैं, पर इस शती के आरंभिक चरण मे कविता की आराधना भी वे बड़े मनोयोग से कर चुके हैं। उपन्यास और आत्मकथा विधाओं मे भी उनकी रचनाएँ लोकप्रिय हो चुकी हैं। सन् १६३६ में प्रकाशित 'कवि और काव्य' नामक उनकी पुस्तक छायावाद विषयक सर्वप्रथम और सर्वाधिक प्रामाणिक कृति के रूप में समादृत हो चुकी है। इसके दस वर्ष पूर्व 'परिचय' नाम से हिंदी की छायावादी कविताओं का संग्रह वे संकलित संपादित कर प्रकाशित कर चुके थे। अपनी निजी कविताओं का संग्रह 'नीरव' भी कुछ समय बाद ही उन्होने निकाला था। अस्तु।

पुस्तक का उत्तरवर्ती समीक्षा खंड पूर्वखंड से कुछ बड़ा है—विविधात्मक है। इस खंड का प्रथम लेख है 'एक साहित्यिक वार्तालाप' जिसमें उनका एक इंटरव्यू उद्धृत है। इसके अंतर्गत एक स्थान पर वे स्वयं कहते हैं।

'यदि लोग मुझे शैलीकार के रूप मे मानते हैं तो मेरी लेखन कला को पहिचानते है, किंतु शैलीकार होने का अभिप्राय यह नहीं है कि साहित्यकार कवि और आलोचक ही नहीं रह जाता। साहित्य की कोई भी विधा शैली के लिये चित्रपट बन सकती है। आलोचना भी मेरा एक चित्रपट है। आलोचना मे निबंधकला की शैली बनकर आलोचना को नीरस नहीं होने देती।'

इस समीक्षा खंड में छायावाद से लेकर समसामयिक 'नवलेखन' तक के संबंध में लेखक के विचार विभिन्न लेखों मे संकलित हैं। छायावाद 'प्रसाद' उनकी 'कामायनी' पंत जी और उनके लोकपतन के अतिरिक्त इस खंड मे अज्ञेय जी माखनलाल जी, राष्ट्रकवि गुप्त जी, प्रेमचंद आदि के संबंध में लेखक के विचार बड़ी ही स्पष्ट और प्रांजल शैली में मिलते हैं—कहीं कोई उलझन या द्वैविध्य नहीं। यह आवश्यक नहीं कि लेखक समस्त कवियों लेखकों के विचारों से सर्वांशतः सहमत हो। पर जहाँ कहीं भी उसने भिन्न मत व्यक्त किया है, बड़ी ही शालीनता और सौजन्य के साथ। लेखक ने तथाकथित नवलेखन की विभिन्न विधाओं का बड़ी सूक्ष्मता से अध्ययन मनन किया है और उसकी मान्यता है कि 'नवलेखन के मूल्यों और धार-

याओं का प्रश्न उम्र में बँटी हुई पीढ़ियों का नहीं, दो तरह से सोचनेवाली पीढ़ियों का है।' इतना होने पर भी यह नवलेखन लेखक के गले उतरता नहीं प्रतीत होता क्योंकि उसका कहना है :

'हिंदी के नए साहित्य तथा दक्षिण (तेलगु) के दिगंबर काव्यांदोलन से मेरा मतभेद रचनात्मक है, दोनों की आधुनिक निर्मिति से मेरा दृष्टिसाम्य नहीं है।'

इस संग्रह के और सब लेख तो ठीक और उचित हैं पर 'बिन पैसे दुनिया का सफर' और 'माधवन् जी का रचनात्मक चिंतन' बहुत कुछ विजातीय और अन्यान्य लेखों से अलग अलग प्रतीत होता है। विशेषतः 'सफर' वाले लेख की इस संग्रह में क्या उपयोगिता या औचित्य है, नहीं समझ पड़ा।

लेखक ने 'छायावाद' के संबंध मे विशद रूप से विचार किया है। द्विवेदी युग में मे ही इस शैली की कविता का सूत्रपात हो चुका था और श्री सियारामशरण जी तथा श्री मुकुटधर पांडेय जी ने अपनी कविताओं से हिंदी का भंडार भरा था। 'छायावाद' शब्द हिंदी मे क्यों, कब और किसके द्वारा प्रयुक्त हुआ, इसकी चर्चा भी विद्वान् लेखक ने बड़ी खोजबीन के साथ की है। इसी प्रसंग में लेखक ने एकाधिक बार अँगरेजी शब्द 'मिस्टिज्म' का प्रयोग नागराक्षरों मे किया है। इसका ठीक रूप 'मिस्टिसिज्म' है, जिसके लिये अपने यहाँ 'रहस्यवाद' शब्द रूढ़ हो चुका है।

लेखक की यह सर्वाधिक नवीन कृति है। हिंदी संसार इसका समादर भी विद्वान् लेखक की अन्यान्य कृतियों की भाँति ही करेगा, इसका पूरा विश्वास है।

—शंभुनाथ वाजपेयी

❀

नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी के

नवीनतम प्रकाशन

मानस अनुशीलन—संपादक पं॰ सुधाकर पांडेय, मूल्य १६·७५

मानस अनुशीलन स्व॰ श्री शंभुनारायण चौबे द्वारा नागरीप्रचारिणी पत्रिका के विविध अंकों में लिखित लेखों का संकलन है। साथ ही तीन सौ पृष्ठों के अपने परिशिष्ट में संपादक ने मानस पर शोध करनेवालों के लिये अत्यंत उपयोगी सहायक और विशिष्ट सामग्री उपस्थित की है।

लुगदी और क

प्रस्तुत ... । हो
काय ि ... ही
इसमें

धातु
लाल
मुगल
हिंदी
हिंदी